समर्पण पत्र

—:※:—

मैं महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी के विचारों के तुलनात्मक अनुशीलन विषयक इस पुस्तक को भारत गण राज्य के प्रथम राष्ट्रपति माननीय देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद जी को सादर समर्पित करता हूँ जो इन दोनों मान्य महापुरुषों के भक्त और आर्य संस्कृति के श्रद्धालु उपासक हैं। आशा है माननीय राष्ट्रपति जी इस तुच्छ भेंट को सप्रेम स्वीकार कर अनुगृहीत करेंगे।

विनीत समर्पक—

धर्मदेव

श्री श्रद्धानन्द बलिदान भवन, देहली।

२७ माघ २००६ विक्रमाब्द

७–२–१९५०

पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति आर्य समाज के उन विद्वानों में से हैं जो अत्यन्त स्वाध्यायशील और परिश्रमी हैं। आप धार्मिक तथा सामाजिक विषयों पर कई ग्रन्थ लिख चुके हैं, जिन पर आप के विस्तृत अध्ययन की मुहर लगी है। इस पुस्तक में विद्यावाचस्पति के "महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी" विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण लेखों का संग्रह है। मुझे निश्चय है कि विद्या-व्यसनी महानुभाव इस पुस्तक से लाभ उठायेंगे। साधारण जनता के लिए इन लेखों का विशेष महत्त्व है।

२६ जवाहर नगर
देहली
१५-६-५१

इन्द्र विद्यावाचस्पति
सदस्य भारतीय संसद्
तथा मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी

विषय-सूची

॥ ओ३म् ॥

महर्षि दयानन्दजी का महत्व और सन्देश

(दीपावलि के दिन निर्मित)

(१)

ऋषि के अद्भुत गुण गण का हम,
आओ मिल कर करें विचार।
उनकी उत्तम शिक्षाओं को,
अपने जीवन में लें धार॥

(२)

सारा वैभव जिसने त्यागा,
जिससे होवे पर-उपकार।
उस योगी का स्मरण करें फिर,
कर लें दलितों का उद्धार॥

(३)

सत्यनिष्ठता उस योगी की,
कहो कहां पाई जाती ?
जिसने प्रकट करी सच्चाई,
निर्भय हो खोली छाती॥

(४)

सच्चे शिव का पता लगाने,
जो बन बन में भटका था।
कष्ट सहस्रों आये थे पर,
नहीं कहीं जो अटका था॥

(५)

उस ऋषिवर की निर्भयता की,
नहीं कहीं भी सीमा थी।
जिसने सारे जग के आगे,
गाई वैदिक महिमा थी॥

(६)

जो कुछ समझा सत्य उसे झट,
बेखटके था कह डाला।
जिसके कारण पिया हर्ष से,
उसने विष तक का प्याला॥

(७)

दयासिंधु था वह ऋषि जैसे
उसका नाम जताता है।
दीन अनाथों की गौवों की,
रक्षा वही कराता है॥

(८)

विष देने वाले घातक को
भी था उसने क्षमा किया।
उसके जीवन की रक्षा हित,
धन का भी साहाय्य दिया॥

(९)

क्या ऐसी करुणा पुरुषों में,
भाई! पाई जाती है?
ऐसों की तो गणना निश्चय,
देवों में ही आती है॥

(१०)

ऐसे देव महात्मा का ही,
आज हुआ उत्तम बलिदान।
सत्य धर्म की शुभ वेदी पर,
किये समर्पण जिसने प्राण॥

(११)

उसका अब सन्देश यही है,
मिल जाओ सब ही भाई।
बिलकुल दूर करो आपस में,
जो है फूट समाई॥

(१२)

एकेश्वर के पूजक होओ,
सभी सत्य को ग्रहण करो।
वैदिक शिक्षा पर चल कर के,
सब उत्तम आचरण करो॥

(१३)

छोड़ो रीति रिवाज बुरे जो
बाल्य विवाहादिक हैं।
सब को उत्तम शिक्षा दे दो,
जो कन्या बालक हैं॥

(१४)

भारत माता की सेवा में,
तन मन धन सब वारो।
जो अछूत कहलाते उनको,
तुम सप्रेम उभारो॥

(१५)

डर को दूर भगा कर सच्चे,
कर्म वीर बन जाओ।
जात पात के क़िले गिरा कर,
सच्चे आर्य कहाओ॥

(१६)

आर्य सभ्यता को अपनाओ,
जो अत्यन्तोत्तम है।
नक़ल करो पाश्चात्य सभ्यता
की न जो कि विष सम है॥

(१७)

प्रेम सहित व्यवहार चलाओ,
सभी राष्ट्र भाषा में।
जिससे भारत माता प्रमुदित,
होवे नव आशा में।

—धर्मदेव वि० वा०

———

महात्मा गांधी का अमर बलिदान

३०-१-४८ रात्रि

[पं० धर्म देव जी विद्यावाचस्पति स० मन्त्री सार्वदेशिक सभा)

सत्य अहिंसा मूर्ति महात्मा गांधी का अवसान हुआ।
प्रेम ऐक्य की वेदी पर पुण्यात्मा का बलिदान हुआ।
हो सब का कल्याण जगत् में नहिं विरोध लव लेश रहे।
उच्च भावनायुक्त सन्त का हाय शून्य है स्थान हुआ॥

पर उपकार परायण निशिदिन, वे थे धीर शिरोमणि वीर।
आत्म शक्ति उनकी अति अद्भुत, ध्येय ऐक्य उनका गम्भीर।
पूर्ण अहिंसामय साधन से भारत को स्वाधीन किया।
हाय दुष्ट की गोली ने उन विश्ववन्द्य का अन्त किया॥

कौन विश्व को प्रेम शान्ति का अब सन्देश सुनायेगा?
सत्य मार्ग से भ्रष्ट नरों को कौन मार्ग दिखलायेगा?
वैर विरोध बढ़ा है जग में उसे कौन मिटायेगा?
कौन पाप में मग्न जनों में ऊंचे भाव जगाएगा?

हाय दुष्ट हत्यारे तू ने, कुछ भी तो न विचार किया।
सकल विश्व के मान्य महात्मा का निर्दय संहार किया।
तू ने सारे जग में भारत का अतिशय अपकार किया।
विश्वमित्र उस शुभ विभूति को हर के अत्याचार किया॥

वे तो अमर हुए जगती पर, अपने शुभ गुण गण कारण।
सत्य अहिंसा प्रेम दया का, किया उन्होंने व्रत धारण।
उनका नाम मिटा सकता तू, नहीं कभी भी ऐ दानव।
तू ने अतिकृतघ्नता दिखला, किया कलङ्कित पद मानव॥

पूज्य महात्मा की हत्या पर, हम सब शोक मनाते हैं।
मन मन्दिर में उनकी, मोहन प्रतिमा आज बिठाते हैं।
भक्ति कुसुम लेकर अति सुरभित, हम सप्रेम चढ़ाते हैं।
उनके सन्मुख श्रद्धा से सब, नतमस्तक हो जाते हैं॥

पूर्ण अहिंसक सत्य व्रत-धरवर वे धीर शिरोमणि थे।
उनके समान सारे जग में नहीं कोई भी नरमणि थे॥
क्यों फिर उनके अद्भुत गुणगण का हम सब नहिं गान करें?
क्यों न महात्मा जी का श्रद्धा-पूर्वक दिल से मान करें?

पढ़ें महापुरुषों के जीवन जो थे पर उपकारी।
जनता के हित अर्पित करदी जिन विभूति निज सारी॥
किन्तु महात्मा गाँधी जी का, जीवन कुछ अनुपम था।
आत्म शक्ति का शुभ विकास उनका अतिशय उत्तम था॥

सत्याग्रह का शस्त्र चलाना, पूर्ण अहिंसामय जो।
किसने हमें सिखाया अद्भुत स्वतन्त्रता पाने को?
किसके एक इशारे पर थे, उद्यत कट मरने को?
भारत वासी देश भक्त सब, सकल जेल भरने को?

अनभिषिक्त सम्राट् कौन था, भारतीय हृदयों का?
पावन पतित जनों का तप से, नेता सदय जनों का?
शत्रु मित्र किस के गुण गण से, सब मोहित हो जाते थे?
कौन महात्मा जिस के आगे, सभी हार खा जाते थे?

कर दिखलाये किसने करतब, जो न किसी ने किये थे?
किसने अपने तन मन धन जन, परहित सर्व दिये थे?
कहां दृष्टि गोचर होती थी इतनी विनय सरलता?
जादू की सी आकर्षता निर्भयता तत्परता?

"दया धर्म का मूल" यही उपदेश सुनाते निशिदिन।
प्रेम शान्ति का उदारता का भाव बढ़ाते छिन छिन॥

हाय आततायी की गोली का शिकार बन लीन हुए।
परब्रह्म की शान्तिमयी उस, गोदी में आसीन हुए॥

करें प्रार्थना सद्गति की क्यों, इसमें क्या कुछ भी संदेह ?
आत्म तत्त्व को अमर जानकर, वे जीवन में बने विदेह॥
जीवन उन का शुद्ध यज्ञमय, जिस में नहीं स्वार्थ का लेश।
ईश्वर पर विश्वास अटल था, नहीं द्वेष मल का अवशेष॥

यही प्रार्थना हम भी वैसे पर उपकारी धीर बनें।
उन के चरण चिन्ह पर चलकर, नर नारी सब वीर बनें॥
सारे जग में प्रेम शान्ति का हो जाय साम्राज्य अचल।
सर्व शक्तिशाली जगदीश्वर, देवें निर्बल जन को बल॥

(१०-२-१९४८ को अखिल भारतीय रेडियो से प्रसारित)

महर्षि दयानन्द वचनामृत

(१) एकेश्वरोपासना:—

जो सब जगत् का कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सब का इष्ट, सब के उपासना के योग्य, सब का धारण करने वाला, सब में व्यापक और सब का कारण है जिसका आदि अन्त नहीं और जो सच्चिदानन्द स्वरूप है, जिसका जन्म कभी नहीं होता और जो कभी अन्याय नहीं करता, इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है उसी को इष्ट देव मानना चाहिये और जो इससे भिन्न को इष्ट देव मानता है उसको अनार्य अथवा अनाड़ी कहना चाहिये।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका - वेद विषय विचार)

(२) ईश्वर विश्वासः—

मैं तो अपना तन मन धन सब कुछ सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण कर चुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता, किन्तु संसार को लाभ पहुँचाना ही मुझे चक्रवर्ती राज्य के तुल्य है।

मैंने इस धर्म कार्य को सर्वशक्तिमान् सत्यग्राहक और न्याय सम्बन्धी परमात्मा के शरण में शीश धरके उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है।

(भ्रान्ति निवारण भूमिका--पृ० १)

(३) ईश्वरोपासना का फलः—

जैसे शीत से आतुर मनुष्य का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष छूट कर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इससे परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना अवश्य करनी चाहिये। इससे इसका फल पृथक् होगा। परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा और सबको सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है?

(सत्यार्थ प्रकाश—सप्तम समु०)

(४) प्रार्थना से लाभः—

प्रार्थना करने से अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण ग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना प्रार्थना का फल है।

(आर्योद्देश्य रत्न माला)

(५) धर्म का त्याग कभी न करो:—

मनुष्यों को योग्य है कि काम से अर्थात् झूठ से कामना सिद्ध होने के कारण से वा निन्दा स्तुति आदि के भय से भी धर्म का त्याग कभी न करें। न लोभ से, चाहे झूठ और अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो तथापि धर्म को छोड़ कर चक्रवर्ती राज्य को भी ग्रहण न करें। धन्य वे मनुष्य हैं जो अनित्य शरीर और सुख दुःखादि के व्यवहार में वर्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग नहीं करते।

(संस्कार विधि—गृहस्थाश्रम प्रकरण)

(६) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है:—

धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं, जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं। इस लिये सब से उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका—वेदोक्तधर्म विषय)

(७) देश का सौभाग्य:—

जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है।

(सत्यार्थप्रकाश—३ य समु०)

(८) सुखमूल ब्रह्मचर्य:—

जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य-विद्याग्रहण रहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है क्योंकि ब्रह्मचर्य

विद्या के ग्रहण पूर्वक विवाह के सुधार से ही सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ होता है।

(सत्यार्थप्रकाश—चतुर्थ समु०)

"ब्रह्मचर्य जो कि सब आश्रमों का मूल है उसके ठीक ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका—वर्णाश्रम विषय)

(९) सत्य का ग्रहण और प्रचारः—

विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें।

(सत्यार्थप्रकाश भूमिका)

(१०) मानवताः—

जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और जो स्वार्थ वश होकर पर हानि मात्र करता रहता है वह जानो पशुओं का भी बड़ा भाई है।

(सत्यार्थ प्रकाश भूमिका)

(११) सत्याग्रह और असहयोगः—

मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे, इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मा-त्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुण रहित क्यों न हों उनकी रक्षा, उन्नति और प्रियाचरण; और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महा बलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे

अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे, इस काम में चाहे उसको कितना ही घना दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवें।

(सत्यार्थप्रकाश—स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश)

(१२) धर्मात्माओं का लक्ष्य।

वे ही धर्मात्मा जन हैं जो अपने आत्मा के सदृश सम्पूर्ण प्राणियों को मानें, किसी से भी द्वेष न करें और मित्र के सदृश सब का सदा उपकार करें।

(यजुर्वेद भाष्य ३६। १८ भावार्थ)

———

महात्मा गांधी वचनामृत

(१) ईश्वरीय सहायता:—

जब मैं सब आशाएं छोड़ चुका हूं, दोनों हाथ समेट कर मैं बैठ गया हूँ, तब कहीं न कहीं से मुझे सहायता मिल ही गई है। यही मेरी जानकारी है। स्तुति करना, उपासना करना या प्रार्थना करना कुसंस्कार नहीं है। हमारा खाना पीना, चलना फिरना और उठना बैठना जितना सत्य जान पड़ता है, यह उससे भी अधिक सत्य है।

(आत्म-कथा—पृ. ११७)

(२) प्रार्थना उपासना का फल:—

यह उपासना या प्रार्थना कुछ शब्दों का आडम्बर नहीं है। प्रार्थना के उच्चारण का स्थान कण्ठ नहीं बल्कि हृदय होना चाहिये। इसीलिये यदि हम अपने हृदय को निर्मल बना लें, हृदय के तारों को ठीक लय में साध लें, तो उससे जो स्वर निकलेगा वह अपने आप ऊपर की ओर जायगा। वह स्वाभाविक एक अद्भुत वस्तु है। विकार रूपी मलिनता को दूर करने के लिये उपासना एक महौषधि है इस विषय में मुझे तनिक भी संदेह नहीं है। पर उस कृपा को प्राप्त करने के लिये अपने अन्दर पूर्ण मात्रा में सच्ची नम्रता लाने की आवश्यकता है।

(आत्मकथा पृ. ११७)

(३) ईश्वर व्यक्ति नहीं है। वह तो सर्वशक्तिमान् तथा घट घट व्यापी है। जिस के हृदय में ईश्वर का निवास होगा,

उसके चेहरे से तेज टपकता दिखाई देगा। राम नाम ब्लैक मैजिक नहीं है और न वह गणित का फारमूला है। केवल तोते की भांति राम नाम रट लगाने से शक्ति नहीं मिलेगी। उसके लिये तो एकाग्रचित्त होकर ईश्वर का ध्यान धरना पड़ेगा। परमात्मा का नाम जपने के लिये महात्मा का रूप धारण करना पड़ेगा।

("दिल्ली में गाँधी जी" पृ. ७१ से उद्धृत)

(४) जीवन का ध्येय ईश्वर साक्षात्कार:—

मेरा जीवन क्या है—यह तो सत्य की एक प्रयोग शाला है। मेरे सारे जीवन में केवल एक ही प्रयत्न रहा है—वह है मोक्ष की प्राप्ति—ईश्वर का साक्षात् दर्शन। मैं चाहे सोता हूँ या जागता हूं, उठता हूं या बैठता हूं, खाता हूं या पीता हूँ, मेरे सामने एक ही ध्येय है। उसी को लेकर मैं जिंदा हूं। मेरे व्याख्यान या लेख और मेरी सारी राजनैतिक हलचल, सभी उसी ध्येय को लक्ष्य में रखकर गतिविधि पाते हैं। मेरा यह दावा नहीं है कि मैं भूल नहीं करता। मैं यह नहीं कहता कि मैंने जो किया वही निर्दोष है। पर मैं एक दावा अवश्य करता हूं कि मैंने जिस समय जो ठीक माना उस समय वही किया। जिस समय जो "धर्म" लगा उस से मैं कभी विचलित नहीं हुआ। मेरा पूर्ण विश्वास है कि सेवा ही धर्म है। और सेवा में ही ईश्वर का साक्षात्कार है।

("बापू" पृ. १० में उद्धृत

(५) शान्ति अन्दर है:—

शान्ति बाहर की किसी चीज से, जैसे दौलत से या महलों से नहीं मिलती। शान्ति अपने अन्दर की चीज है। जब आदमी को इस तरह की शान्ति मिल जाती है तो उसकी आंखों, उसके

शब्दों और उसके कामों, सब में वह शान्ति टपकने लगती है। इस तरह का आदमी झोंपड़ी में रह कर भी सन्तुष्ट रहता है और कल की चिन्ता नहीं करता। कल क्या होगा वह भगवान् ही जानते हैं। श्रीरामचन्द्र को, जो हमारी तरह आदमी थे, यह पता नहीं था कि ठीक उस वक्त जब उनके गद्दी पर बैठने की आशा थी उन्हें वनवास दे दिया जाएगा। पर वे जानते थे कि सच्ची शान्ति बाहर की चीजों पर निर्भर नहीं है, इसी लिये वनवास के खयाल का उन पर कुछ भी असर न हुआ।

(महात्मा गांधी का ३०-१२-४७ का प्रार्थना भाषण "हरिजन सेवक" ११-१-४८)

(६) ब्रह्मचर्य का फल:—

पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन का अर्थ है—ब्रह्म दर्शन। ब्रह्मचर्य में ही शरीर रक्षा, बुद्धि रक्षा और आत्मा की रक्षा निहित है। अब ब्रह्मचर्य मेरे लिये कठोर साधना की वस्तु के रूप में नहीं रहा, बल्कि यह एक अपूर्व रसास्वादन का विषय बन गया और उसी के आश्रय में मेरा जीवन परिचालित होने लगा। तब से मुझे उसके सौन्दर्य में नित्य नवीनता दिखाई देने लगी। इस व्रत का ग्रहण करना, तलवार की धार पर चलने के बराबर है, इस व्रत का अनुभव भी मैं नित्य प्रति करता हूँ। इसके लिये आज भी सदा सजग रहने की आवश्यकता है।

(आत्म कथा पृ० ३१३)

(६) मुझे तो ब्रह्मचर्य हीन जीवन शुष्क और पशुवत् मालूम होता है! पशु स्वभावतः ही असंयमी होते हैं। लेकिन मनुष्य का मनुष्यत्व ही यह है कि वह स्वेच्छा से संयम के अधीन हो कर रहे। जिस ब्रह्मचर्य में इतनी अद्भुत शक्ति है वह कोई हंसी खेल का विषय नहीं, वह केवल शारीरिक वस्तु नहीं। शारीरिक

संयम के द्वारा तो केवल ब्रह्मचर्य का श्री गणेश होता है। परन्तु शुद्ध ब्रह्मचर्य में विचार तक में मलिनता न होनी चाहिये। पूर्ण ब्रह्मचारी के विचार स्वप्न में भी विकार युक्त नहीं होते। जब तक विकार युक्त स्वप्न आते रहें तब तक यह समझना चाहिये कि ब्रह्मचर्य अभी दूर है।

(आत्म कथा २ य भाग, पृ० ६४)

(८) न्याययुक्त व्यवहारः—

मेरे अनुभव मुझे बताते हैं कि यदि विपक्षी के साथ न्याय का बर्ताव किया जाता है तो अपने पक्ष के लिये न्याय का पाना सहज हो जाता है।

(आत्म कथा प्रथम भाग, पृ० २७३)

ईश्वरार्पित जीवनः—

ईश्वर जो हुक्म करता है वही मैं करता हूँ। मैं किसी के कहने से कैसे भाग सकता हूं ? किसी के कहने से मैं खिदमतगार नहीं बना। किसी के कहने से मिट नहीं सकता। ईश्वर की इच्छा से मैं जो हूं, बना हूं। ईश्वर को जो करना है करेगा। ईश्वर चाहे तो मुझे मार सकता है। मैं समझता हूं कि मैं ईश्वर की बात मानता हूं। मैं हिमालय क्यों नहीं जाता ? वहाँ रहना तो मुझे पसन्द पड़ेगा। ऐसा नहीं कि मुझे वहां खाना, पीना ओढ़ना नहीं मिलेगा। मगर मैं अशान्ति में से शान्ति चाहता हूँ, नहीं तो उस अशान्ति में मर जाना चाहता हूं। मेरा हिमालय यहाँ है। आप सब हिमालय चलें, तो मुझको भी अपने साथ लेते चलें।

(२९-१-४८ को अर्थात् हत्या से १ दिन पूर्व महात्मा गांधी जी के प्रार्थना सभा में दिये महत्त्वपूर्ण भाषण से उद्धरण—हरिजन सेवक ८-२-४८)

"I will not be a traitor to God to please the whole world" (Harijan 18 Th. Feb. 1933)

अर्थात् मैं सारे संसार को प्रसन्न करने के लिये भी ईश्वर से द्रोह या उसकी आज्ञा का उल्लंघन न करूंगा।

(११) सत्य का पूर्ण आचरण:—

मैं स्वयं एक विद्यार्थी हूँ। मुझे कोई स्वार्थ नहीं और जहाँ कहीं मैं सत्य देखता हूं उसे मैं ग्रहण कर लेता हूं और उस पर आचरण करने का प्रयत्न करता हूँ।

"I am a learner myself, I have no axe to grind, and whereever I see a truth, I take it up and try to act upto it"

(The mind of Mahatma Gandhi—P. 20)

(१२) व्यावहारिक पवित्र जीवन:—

अतिशय तृष्णा त्यागो, पड़ौसी की सेवा करना सीखो, व्यवहार में सचाई सीखो, सहिष्णु बनो। ईश्वर में विश्वास रखो। किसी पर लोभवश आक्रमण न करो। यदि कोई दुष्टता से आक्रमण करता है तो बिना मारे मरना सीखो। कायरता और अहिंसा एक वस्तु नहीं है। शौर्य की आत्यन्तिकता का ही दूसरा नाम अहिंसा है। क्षमा बलवान् ही कर सकता है, इसलिए अत्यन्त शूर बनो। अत्यन्त शूर बनने के लिये जिन गुणों की आवश्यकता है उनकी वृद्धि करो। यदि इतना कर पाओ और ईश्वर में श्रद्धा है तो निर्भय विचरो।"

("बापू" पृ० २० में उद्धृत)

प्रथम अध्याय

महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी

अद्भुत समानतायें

महर्षि दयानन्द और महात्मा मोहनदास गांधी ये दोनो कलियुग की उज्ज्वल विभूतियों में से हैं जिनका नाम जगत् के धार्मिक और राजनैतिक इतिहास में सदा आदर की दृष्टि से लिया जाएगा। इन दोनो महापुरुषों के जीवन, कार्य और शिक्षाओं में अनेक आश्चर्यजनक समानताएं स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणार्थः—

(१) ये दोनो महापुरुष गुजरात प्रान्त और काठियावाड़ में उत्पन्न हुए। महर्षि दयानन्द का जन्म टङ्कारा और महात्मा गांधी का पोरबन्दर में हुआ।

(२) दोनो के पिता रियासतों के अधिकारी थे। महर्षि दयानन्द के पिता श्री कर्षन जी त्रिवेदी मोरवी राज्य के कर विभाग के एक अधिकारी और महात्मा मोहनदास गांधी जी के पिता श्री कर्मचन्द जी गान्धी राजकोट पोरबन्दर आदि रियासतों के दीवान रह चुके थे।

(३) दोनो पक्के ईश्वर विश्वासी थे। दोनों महापुरुष ईश्वर के सच्चे भक्त थे। भगवद् गीता में प्रतिपादित

अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः, समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी, यतात्मा दृढनिश्चयः॥

अर्थात् किसी भी प्राणी से द्वेष न करना, सब को मित्र समझना, दुःखितों पर दया, ममता और अहङ्कार का परित्याग, सुख और दुःख में समानता, क्षमा, प्रत्येक अवस्था में सन्तुष्ट रहना, सफलता और असफलता में समता, संयम, दृढ़ निश्चय आदि सच्चे ईश्वर भक्त के लक्षण दोनों महात्माओं में समान-रूप से पाए जाते थे। दोनो महापुरुषों के जो वचनामृत पूर्व दिये जा चुके हैं उन से यह स्पष्ट है कि उनका ईश्वर पर विश्वास कितना अचल था।

(४) दोनो महात्मा ईश्वर भक्त होने के अतिरिक्त आदर्श कर्म योगी थे। वेदादि सत्यशास्त्रों के आधार पर भगवद् गीता में सात्विक कर्ता का जो लक्षण पाया जाता है कि:—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी, धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः, कर्ता सात्विक उच्यते॥ १८॥

अर्थात् सात्विक कर्ता वह कहलाता है जो आसक्ति रहित है, जिस में अहङ्कार नहीं, जो धैर्य और उत्साह से सम्पन्न है, तथा सफलता अथवा असफलता से जिस में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। यह लक्षण दोनो महात्माओं में पूर्णतया चरितार्थ होता था। इसलिये दोनों आदर्श कर्म योगी थे। जीवन पर्यन्त समाज और देश की सेवा में दोनों ने अपना तन मन धन समर्पित कर दिया था।

(४) दोनो महात्माओं का जीवन सरलता, निर्भयता, नम्रता, सत्य, अहिंसा और तप से परिपूर्ण था।

सत्य के निर्भयता पूर्वक प्रचार के कारण महर्षि दयानन्द के कई विरोधी हो गये थे जिन्होंने उन्हें कई बार विष देकर मारने तथा अन्य प्रकार से सताने का प्रयत्न किया और अन्त में इसी विष के कारण उनका बलिदान हुआ पर उन्होंने सत्य

के प्रचार में कभी संकोच न किया। महात्मा गांधी जी का सबसे अधिक बल सत्य पर था और वे ठीक ही कहा करते थे कि मेरे अन्दर जो कुछ शक्ति है वह सत्य के व्रत के पूर्णतया धारण के कारण है। ईश्वर पर पूर्ण विश्वास के कारण दोनों महात्मा सर्वथा निर्भय होकर कर्तव्य पालन में तत्पर थे। दोनों अत्यन्त सरल और नम्र थे। अपनी त्रुटि स्वीकार करने में वे संकोच न करते थे। महर्षि दयानन्द अपने समय के सबसे बड़े वेद शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् थे किंतु जब एक १३, १४ वर्ष के संस्कृत पाठशाला के विद्यार्थी ने उनके भाषण में एक अशुद्धि का निर्देश किया तो उन्होंने उसे सरल स्वभाव से स्वीकार कर के धन्यवाद दिया। महात्मा गांधी जी भी सरल स्वभाव से अपनी ब्रह्मचर्यादि विषयक त्रुटियों का स्पष्ट निर्देश करने में संकोच न करते थे। उदाहरणार्थ 'ब्रह्मचर्य के अनुभव' नामक पुस्तक में महात्मा जी ने सरल भाव से लिखा है कि:—पूर्ण ब्रह्मचारी पूर्णतया निष्पाप होते हैं। इसलिये वे परमात्मा के निकट होते हैं। वे परमात्मा के समान होते हैं। ब्रह्मचर्य का ऐसा पूर्ण पालन सम्भव है इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। मुझे यह कहते खेद होता है कि इस प्रकार की पूर्णता मैं प्राप्त नहीं कर पाया हूँ किंतु उसे प्राप्त करने के लिये मैं अनवरत उद्योग कर रहा हूँ और इस जीवन में ही इसे प्राप्त करने की आशा मैंने कभी नहीं छोड़ी है। जागने की दशा में मैं अपनी चौकसी पर रहता हूं। मैंने शरीर पर शासन प्राप्त कर लिया है। वाणी में भी मेरा काफी संयम है किन्तु विचारों के सम्बन्ध में मुझे अभी बहुत कुछ करना बाकी है। जब मैं अपने विचारों को किसी खास विषय पर जमाना चाहता हूँ तब दूसरे विचार भी मुझे छेड़ते रहते हैं और उनमें आपस में टक्कर होती है। फिर भी मैं जागने के घण्टे में उनकी टक्कर

को रोक लेता हूं। यह कहा जा सकता है कि मैं उस दशा को पहुंच गया हूं जहां मैं अपवित्र विचारों से मुक्त हूँ किन्तु मैं सोते समय अपने विचारों पर उतना ही संयम नहीं रख पाता हूँ। सोते में हर प्रकार के विचार मेरे मन में घुस आते हैं और मैं ऐसे भी सपने देखता हूं जिनकी आशा नहीं होती, कभी-कभी पहलेके भोगे हुए आनंदोंकी इच्छा उमड़ आती है। जब यह इच्छायें अपवित्र रहती हैं तब सपने भी बुरे होते हैं, यह पापमय जीवन की निशानी हैं। मेरे पाप के विचार घायल हो गये हैं लेकिन मरे नही हैं। यदि मैंने अपने विचारों पर पूरा काबू पा लिया होता तो पिछले दस साल में जो मुझे प्लूरिसी डिसेन्ट्री और अपेण्डीसाइटीज की बीमारियां हुई हैं वे न हुई होतीं। मेरी धारणा है कि जब आत्मा निष्पाप होती है तो यह शरीर भी जिस में वह निवास करती है स्वस्थ रहता है।" (ब्रह्मचर्य के अनुभव—म० गांधी जी कृत पृष्ठ ४-५)

"इसी लिये मैं चाहता हूं कि मुझ पर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालन का आरोपण करके कोई मिथ्यावादी न हो। नैष्ठिक ब्रह्मचारी का तेज तो मुझ से अनेक गुणा अधिक होना चाहिये। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं। हां यह सच है कि मैं वैसा बनना चाहता हूँ। (ब्रह्मचर्य के अनुभव पृ० ३१)

'मेरे दूषित स्वप्नों के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिये।" सम्पूर्ण ब्रह्मचारी न होने पर भी यदि वैसा करने का दावा करूं तो उससे संसार को बड़ी हानि होगी, उससे ब्रह्मचर्य कलङ्कित होगा। सत्य का सूर्य म्लान होगा। ब्रह्मचर्य का मिथ्या दावा करके मैं ब्रह्मचर्य का मूल्य क्यों घटाऊं ? आज तो मैं यह स्पष्ट देख रहा हूँ कि ब्रह्मचर्य के पालन के लिये मैं जो उपाय बताता हूँ वे सम्पूर्ण नहीं हैं। सब लोगों को वे सम्पूर्णतया

सफल नहीं होते हैं क्योंकि मैं स्वयं सम्पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हूं ।" इत्यादि (ब्रह्मचर्य के अनुभव पृ० ३८)

तीन प्रकार का जो तप शारीरिक, वाचिक, मानसिक भगवद्गीता के १७ वें अध्याय में बताया गया है उसका अनुष्ठान दोनों महात्माओं ने किया था। * उस तप में विद्वानों की पूजा, सरलता, पवित्रता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, प्रिय, हित कारक वचन, स्वाध्याय का अभ्यास, मन की प्रसन्नता, शान्तता, मुनियों की तरह आत्मा परमात्मा का चिन्तन, आत्म-संयम, चित्त शुद्धि इत्यादि सम्मिलित हैं। इन में से ब्रह्मचर्य के विषय में श्री पूज्य महात्मा गांधी जी महर्षि दयानन्द जी को आदर्श रूप मानते थे। इन्होंने महर्षि दयानन्द को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा था कि "महर्षि दयानन्द के लिए मेरा मन्तव्य यह है कि वे हिन्द के आधुनिक ऋषियों में, सुधारकों में, श्रेष्ठ पुरुषों में एक थे। उनका ब्रह्मचर्य, उनकी विचारस्वतन्त्रता, उनका सब के प्रति प्रेम, उनकी कार्य कुशलता इत्यादि गुण लोगों को मुग्ध करते थे। उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत ही पड़ा है। ("दिव्य दयानन्द" पृ० ५)

एक दूसरे स्थान पर उन्होंने अंग्रेजी में लिखा कि—

---

* देवद्विज गुरु प्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं, मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्, तपो मानसमुच्यते॥

गीता १७।१४-१६

'Dayanand's character is at once my envy and distress." (Quoted in 'An interpretation of Dayananda' by prof Tarachand M. A. P. 13)

अर्थात् दयानन्द जी का चरित्र मेरे लिये ईर्ष्या और दुःख का विषय है अर्थात् अनुकरणीय है किन्तु खेद का विषय इस लिये कि मैं उसका पूर्णतया अनुसरण नहीं कर सका !

अहिंसा का अनुष्ठान

त्रिविध तप के जो लक्षण भगवद् गीता में बताये है, उन में अहिंसा भी है। इस विषय में भी महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी के वैयक्तिक जीवनों में अद्भुत समानता दृष्टि गोचर होती है। अहिंसा की व्याख्या करते हुये योग-दर्शन के भाष्य में श्री वेदव्यास जी ने लिखा है कि:—"अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः" अर्थात् सदा, सब प्रकार से और सब प्राणियों के साथ—अद्रोह - उन्हें मारने वा कष्ट देने की इच्छा न करना यह अहिंसा है। इस अहिंसा के विषय में आदर्श योग दर्शन में पतंजलि मुनि ने यह बताया है कि: -

ते च (यमाः) जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

अर्थात् जाति, देश, समय इत्यादि की सीमा से रहित नियमों का पालन सार्वभौम महाव्रत कहलाता है। इसकी व्याख्या में व्यास जी ने लिखा है कि "ते अहिंसादयः सर्वथैव पालनीयाः सर्वभूमिषु, सर्वविषयेषु, सर्वथाप्यविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रत मत्युच्यन्ते।"

अर्थात् अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन

यमों का सर्वदा सर्वथा पालन सर्व स्थानों और सब विषयों में बिना अपवाद के करना सार्वभौम महाव्रत कहलाता है। स्वनाम धन्य महर्षि दयानन्द जी और महात्मा गांधी जी दोनों महात्माओं के विषय में यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है, कि उन्होंने अपने जीवन में अहिंसा के सार्वभौम महाव्रत का पालन किया था यहां तक कि अपने घातकों के प्रति भी उन्होंने दयालुता और उदारता पूर्ण व्यवहार किया था।

अनूपशहर में जब ऋषि दयानन्द के मूर्तिपूजा खण्डनादि से अप्रसन्न होकर एक ब्राह्मण कुलोत्पन्न नीच व्यक्ति ने पान के साथ ऋषि को विष देकर उनके पवित्र जीवन का अन्त करना चाहा और उसे पकड़ कर ऋषिभक्त सय्यद मुहम्मद नामक मुसलमान तहसीलदार ऋषि के पास दण्ड देने के लिये लाया तो ऋषि ने ये अमर वाक्य अपने श्रीमुख से निकाले:—

"मैं संसार में किसी को कैद करवाने नहीं आया किन्तु सब को कैद से छुड़वाने आया हूँ, वह यदि अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ेगा तो हम अपनी श्रेष्ठता क्यों छोड़ें? नन्हीजान वेश्या की प्रेरणा से जो महर्षि के महाराज जोधपुर को वेश्यागमन पर झाड़ देने से नाराज थी जब जगन्नाथ नामक उनके पाचक ने दूध में विष मिला कर दिया तो उससे अपराध स्वीकार कराते हुये महर्षि दयानन्द ने स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य इस आशय के वाक्य कहे और उस घातक की रक्षार्थ २००) दिये।

'जगन्नाथ! मेरे शरीर का नाश हो जाने से सारा काम अधूरा रह गया। तुम जानते हो कि इससे लोकहित की कितनी हानि हुई। विधाता के विधान में ऐसा ही होना था। लो ये २०० तुम्हें देता हूं! तुम्हारे काम आयेंगे। जैसे बने अब राठौर-राज्य की सीमा से तुम पार हो जाओ। सीधे नैपाल राज्य में

चले जाओ। वहां ही तुम्हारे प्राण बच सकेंगे। अब देर न करो। मेरी ओर से निश्चिन्त रहना।"

ऐसी ही घातकों के प्रति दयालुता और उदारता महात्मा गांधी जी ने अनेक अवसरों पर अफ्रीका तथा भारत में प्रदर्शित की थी।

१३ जनवरी सन् १८९७ में जब महात्मा गांधी जी पर क्रुद्ध गोरों की भीड़ ने घातक आक्रमण नेटाल में जहाज के लगते ही किया और जिसका समाचार मिलने पर मि० चेम्बरलेन ने जो उन दिनों ब्रिटेन के उपनिवेश मन्त्री थे यह तार दिया कि जिन लोगों ने गांधी जी पर अत्याचार किया उन पर नालिश दायर की जाए और उनके मामलों का ठीक-ठीक निर्णय किया जाए, तो महात्मा गांधी जी ने कहा कि "मैं किसी पर नालिश नहीं करना चाहता। दङ्गा फसाद करने वालों में से मैं दो चार आदमियों को पहचानता भी हूं पर उन्हें दण्ड देने से क्या लाभ·······जब सच्ची और असली बात लोगों को मालूम हो जाएगी तब आप ही सब लोग पछतायेंगे। ('आत्म कथा' प्रथम भाग पृ० २६३) इसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि गोरे लोगों को अपने व्यवहार के लिये आप ही लज्जित होना पड़ा। समाचार पत्रों ने भी महात्मा जी को निर्दोष बताया और दङ्गाइयों की निन्दा की।

२० जनवरी सन् १९४८ को जब महात्मा गांधी जी पर प्रार्थना सभा में मदनलाल नामक व्यक्ति ने बम फैंका यद्यपि उस समय वह सफल नहीं हुआ और वह पकड़ा गया उसके सम्बन्ध में महात्मा जी ने प्रार्थना सभा में कहा कि "जिस भाई ने यह बम फैंकने का काम किया है, उसके प्रति आप लोगों के दिलों में घृणा नहीं होनी चाहिये। हम सब यही प्रार्थना करें कि भगवान्

उसे सुमति दे।……मैंने डी० आई० जी से यही कहा कि उस आदमी को सताया न जाए। अगर वह इस बात को समझ ले कि उसने हिन्दुस्तान के सामने और सारे जगत् के सामने अपराध किया है तो पीछे जो करना चाहते हैं वे करें। लेकिन हमारी कोशिश यह होनी चाहिये कि हम उस पर गुस्सा न करें। अगर आप सब लोग उसके काम को नापसन्द करें तो उसका परिवर्तन होने वाला है इसमें मुझे कोई शक नहीं है क्योंकि इस जगत् में जो पाप है वह अपने आप कभी नहीं रह सकता, किसी के सहारे से ही वह रह सकता है। केवल भगवान् और भगवान् के भक्त ही अपने सहारे रह सकते हैं।"

मुझसे कहा गया कि आप मरने वाले थे पर ईश्वरकी कृपा से बच गये। अगर सामने बम फटे और मैं न डरूं, तो आप देखेंगे और कहेंगे कि वह बम से मर गया तो भी हंसता रहा। आज़ तो मैं तारीफ के काबिल नहीं हूँ।

(हरिजन सेवक १ फरवरी १९४८)

अन्ततः ३० जनवरी १९४८ की सायंकाल ५-१० पर जब नाथूराम विनायक गोडसे ने महात्मा गांधी जी पर पिस्तौल से ४ गोलियां चलाईं जिसके परिणाम स्वरूप लगभग आधे घण्टे पश्चात् ५-४० पर उनके बहुमूल्य पवित्र जीवन का मुख से 'हे राम' कहते हुए और चेहरे पर शान्ति मुद्रा और मुस्कराहट रखे हुये देहावसान हुआ तो सचमुच शोकमग्न जनता ने उस अद्भुत महात्मा के वचनों की यथार्थता को अनुभव किया। मूर्छित हो जाने के कारण महात्मा जी के मुख से कोई शब्द न निकल सके पर यह निश्चित है कि उन्होंने घातक के विषय में भी कोई क्रोध या द्वेष अपने अन्दर न आने दिया होगा और उसके लिये भगवान् से प्रार्थना ही की होगी।

इस प्रकार इन दोनों महात्माओं के वैयक्तिक जीवनों में अहिंसा के सार्वभौम महाव्रत का पालन करने की दृष्टि से अद्भुत समानता है। यद्यपि महर्षि दयानन्द के दुष्टों के प्रति क्षत्रियों द्वारा अस्त्रशस्त्र प्रयोगादि विषयक विचारों में महात्मा गांधी जी से कुछ मतभेद अवश्य है जिसकी मैं विभिन्नताओं के प्रकरण में चर्चा करूंगा।

सत्य का सार्वभौम व्रत—

महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी दोनों ने ही अहिंसा के समान सत्य के सार्वभौम महाव्रत का जीवन में पूर्णतया पालन कियाथा और उसकी अद्भुत शक्ति में दोनों का पूर्ण विश्वास, था जिसका वेदों में—

"ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वी ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति। ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥"

इत्यादि मन्त्रों द्वारा वर्णन पाया जाता है, जहां कहा है कि सत्य का पूर्णतया धारण सब पापों को नष्ट कर देता है— सत्य का तेजस्वी शब्द बधिर के कानों में भी पहुँच कर उसे प्रभावित कर देता है। जिस प्रकार महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश की प्रारम्भिक भूमिका में लिखा कि:—

"सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है। ....जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य में धर प्रवृत्त होता है उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं परन्तु "सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः" अर्थात् सर्वदा सत्य की विजय और असत्य की पराजय और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है इस दृढ़ निश्चय के आलम्बन से आप्त

लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थ प्रकाश करने से नहीं हटते ।"

(सत्यार्थ प्रकाश भूमिका) उसी प्रकार महात्मा गांधी जी ने २६ सितम्बर १९४७ को देहली की प्रार्थना सभा में भाषण देते हुए कहा कि:—

"याद रखें "सत्यमेव जयते" कि सत्य की जय होती है। सत्य हमेशा जय पाता है। 'नानृतम्' अर्थात् झूठ कभी नहीं। यह महान् वाक्य है। इसमें हमारे धर्म का निचोड़ है। उसको आप कण्ठ कर लें, दिल में रख लें। तो मैं कहूँगा और जोरों से कहूंगा कि अगर सारी दुनियां हमारा सामना करे तो हम खड़े रहने वाले हैं, हम को कोई नहीं मार सकता है। हिंदू धर्म का कोई नाश नहीं कर सकता। अगर उसका नाश हुआ तो हम ही करेंगे।" ('भाइयो और बहिनों" इस नाम से भारत सरकार द्वारा प्रकाशित म० गांधी जी के प्रार्थना भाषण अंक २ पृ० २०)

महर्षि दयानन्द जी ने सत्य के सार्वभौम, महाव्रत को कितनी दृढ़ता से धारण किया हुआ था इसके सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्यतया उल्लेखनीय हैं:—

फर्रुखाबाद में महर्षि जी एक परमात्मा की उपासना का प्रचार कर रहे थे। एक पादरी लूकस ने उनसे कहा—क्यों बाबा. आपको तोप के मुंह पर रख कर आप से कहा जाये कि यदि तुम मूर्ति को मस्तक नहीं नवाओगे तो तुम्हें तोप के मुंह से उड़ा दिया जायगा तो आप क्या कहेंगे ? महर्षि ने कहा कि मैं यह कहूंगा कि मुझे उड़ा दो परन्तु दयानन्द का मस्तक

केवल एक परमात्मा के सामने ही झुक सकता है और किसी के सामने नहीं।" श्री खुशहालचन्द्र जी लाहौर कृत

("प्यारा ऋषि" पृ० ५७)

इसी प्रकार पूज्य महात्मा गांधी सत्याग्रह के प्रबल समर्थक थे। ३ अक्टूबर १९४७ को देहली की प्रार्थना सभा में महात्मा गांधी जी ने कहा था कि:—

'सब को इतना समझ लेना चाहिये कि यह काम जो वे कर रहे हैं सत्य है या असत्य। अगर असत्य है तो उसका क्या आग्रह करना था और अगर सत्य है तो सत्य का आग्रह हमेशा और हर हालत में करना ही चाहिये। 'हम को कुछ मिल जाए' इस उद्देश्य से जो सत्याग्रह करते हैं वह सत्याग्रह नहीं हो सकता। वह तो असत्य का आग्रह होगा। सत्याग्रह के लिये मैंने बहुत सी चीजें बताई हैं। दो चीजें तो अनिवार्य बतलाई हैं। एक तो यह कि जिस चीज के लिये लड़ते हैं वह सचमुच सत्य है और दूसरे यह कि उसका आग्रह रखने में अहिंसा का ही उपयोग हो सकता है।"

("भाइयो और बहिनो" अङ्क ३ पृ० १५)

२३ सितम्बर सन् १९४७ की प्रार्थना सभा में महात्मा गांधी जी ने कहा कि:—

"मैं तो एक चीज जानता हूं कि आप तगड़े बनें और जो मैं आपको कहता हूँ उसको आप करें ताकि आप मुझ को यहां से भेज सकें। मैं पंजाब जाना चाहता हूं लाहौर जाऊंगा। मैं पुलिस और मिलिटरी की इस्कोर्ट लेकर नहीं जाना चाहता हूं। तो भगवान् के भरोसे अकेले जाना चाहता हूं और वहाँ के जो मुसलमान हैं उनके भरोसे पर जाना चाहता हूं अगर उनको मारना है तो मार डालें; हंसते हंसते मर जाऊंगा और दिल में

कहूँगा कि भगवान् उनका भला करे। उनका भला भगवान् कैसे कर सकता है ? उनको भला बना कर । ईश्वर के पास भला करने का यही तरीका है—'दिल के मैल को शुद्ध कर देना। वह मेरा शत्रु बने तो भी मैं उसका शत्रु नहीं हूं। मैं उसका बुरा नहीं चाहता तो ईश्वर मेरी बात सुनेगा। उस आदमी के दिल में लगेगा मैंने मारकर क्या लिया ? इस ने मेरा क्या गुनाह किया था ? मुझे वे मारें तो मारने का उन्हें अधिकार है......अगर वे मुझको मार डालें तो आप लोगों को एक पाठ देकर मैं चला जाऊंगा। वह मुझको बड़ा अच्छा लगेगा। वह पाठ क्या है ? तू मरेगा लेकिन किसी को बुरा ख्याल भी नहीं करेगा।"

("भाइयो और बहिनो" अङ्क २ पृ० ७)

इन अमर वाक्यों से महात्मा गांधी जी की सत्यनिष्ठा और निर्भयता का भलीभांति परिचय मिलता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि पूज्य महात्मा जी की पाकिस्तान जाने की इच्छा अनिवार्य कारणवश मन ही मन में रह गई और ३० जनवरी १९४८ को नाथूराम गौडसे के हाथों उनकी हत्या हुई।

द्वितीय अध्याय में हम इन दोनों महात्माओं के शास्त्रीय ज्ञानादि विषयक अन्तर का संक्षेप से दिग्दर्शन करायेंगे ॥

द्वितीय अध्याय

शास्त्रीय ज्ञान विषयक अन्तर

स्वाध्याय में सब से मुख्य वेदों का अध्ययन है क्योंकि ये ईश्वरीय ज्ञान होने से स्वतः प्रमाण हैं। ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद्, गीतादि सब परतः प्रमाण हैं। महर्षि दयानन्द वेदों के धुरन्धर और अपने समय के अनुपम विद्वान् थे। इसलिये उन्होंने न केवल वेदों का स्वयं पूर्णतया अनुशीलन करके अद्भुत लाभ उठाया था किंतु आर्य समाज की स्थापना करते हुए उन्होंने ३ य नियम ही बनाया कि:—

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। उसका पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना, आर्यों का परम धर्म है।

किंतु खेद है कि पूज्य महात्मा गांधी जी को वेदों के विशेष रूप से अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त न हुआ था। और उन का संस्कृत ज्ञान भी बहुत साधारण था अतः उनका स्वाध्याय भगवद्गीता तथा तुलसी रामायण तक ही अधिकतर सीमित रहा जैसे कि उनके निम्न लेखों तथा भाषणों से स्पष्ट है:—

(१) ७ अक्टूबर १९२१ के "नवजीवन" में महात्मा जी ने लिखा:—

"मैं इस बात का दावा नहीं रखता हूँ कि इन अद्भुत ग्रन्थों (वेदों, उपनिषदों आदि) का विशुद्ध ज्ञान मुझे है।"

(२) २३ जून सन् १९२४ में आचार्य रामदेव जी के उत्तर में महात्मा जी ने लिखा:—

"मैं स्वीकार करता हूं कि मुझे वेदों का साक्षात् ज्ञान नहीं है।"

(३) २६ जनवरी सन् १६२५ के 'नवजीवन' में महात्मा गांधी जी का बेलगांव की गोप रपत् में सभापति रूप से दिया भाषण छपा था:—

"छटी कक्षा में पढ़ते हुए संस्कृत पाठशाला में मैंने यह वाक्य पढ़ा था:—

पूर्वे ब्राह्मणा गवां मांसं भक्षयामासुः

अर्थात् प्राचीन ब्राह्मण गो मांस खाते थे। परन्तु उस वाक्य के पढ़ते हुए भी मैं यह मानता हूं कि यदि वेद में ऐसी बात लिखी हो तो उसका अर्थ कदाचित् वह न हो जो हम करते हैं।... मैंने वेद का अध्ययन नहीं किया। बहुतेरे संस्कृत ग्रन्थों को अनुवाद के द्वारा ही मैं जानता हूं इसलिये मुझ जैसा प्राकृत (संस्कृत न जानने वाला) मनुष्य इस विषय में क्या कह सकता है?"

(४) यङ्ग इण्डिया दूसरा भाग पृष्ठ ७३८ पर महात्मा जी के एक लेख का अनुवाद इस प्रकार है—

"मैं हिंदू धर्म पुस्तकों से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हूं। मैं संस्कृत का विद्वान् नहीं हूं। मैंने वेदों और उपनिषदों का अनुवाद पढ़ा है। इसलिये मैं यह नहीं कह सकता कि मैंने उनका अन्वेषण कर पूर्ण अध्ययन किया है पर तो भी मैंने उनका अध्यन कर उनका सारा विषय समझ लिया है।"

(५) 'अनासक्ति योग' की भूमिका में महात्मा गांधी जी ने लिखा कि "मैं गीता के जितने अनुवाद हाथ लगे पढ़ गया परन्तु ऐसा पठन मुझे अपना अनुवाद जनता के सामने रखने

का अधिकार बिलकुल नहीं देता। इसके सिवा मेरा संस्कृत ज्ञान अल्प है फिर मैंने अनुवाद करने की धृष्टता क्यों की ? (अनासक्ति योग भूमिका पृ० ३)

उसी भूमिका में एक दूसरे स्थान पर पूज्य महात्मा जी ने सरलता पूर्वक लिखा कि:—

मेरा संस्कृत ज्ञान बहुत अधूरा होने के कारण शब्दार्थ पर मुझे पूरा विश्वास न हो सकता था और केवल इतने के लिये इस अनुवाद को विनोबा, काका कालेलकर, महादेव देसाई और किशोरलाल मशरूवाला देख गये हैं। (अनासक्ति योग भूमिका पृ० ४)

(६) ६ मार्च सन् १९३३ में जब पूज्य महात्मा गांधी जी से मैंने यरवडा जेल में भेंट की तो बातचीत में उन्होंने बताया कि कई सनातनी पण्डित मेरे पास आकर कहते हैं कि वेदों में यज्ञों में गवादि पशुओं की हिंसा का विधान है तो मैं उन्हें कहता हूं कि यदि ऐसा है तो मैं ऐसे वेदों को भी मानने को तय्यार नहीं हूं। इस पर जब मैंने निवेदन किया "आप को इस प्रकार के शब्द नहीं कहने चाहिये अन्यथा महात्मा गौतम-बुद्ध की तरह (यद्यपि वे नास्तिक न थे पर स्वयं वेदों के विद्वान् न होने और उस समय के पण्डित लोग यज्ञों में पशु हिंसा को वैदिक बतलाते थे इसलिये ऐसे ही शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया था) आप के अनुयायी भी वेदों से विमुख हो जायेंगे तब महात्मा जी ने कहा कि फिर मैं क्या करूं ? मैं तो वेदों का विद्वान् नहीं कि उनके साथ शास्त्राथ कर सकूं इसलिये मुझे यही कहने को विवश होना पड़ता है कि यदि वेदों में तुम्हारे कथनानुसार यज्ञादि में पशु हिंसा का विधान है तो

ऐसे वेदों को मानने को मैं तय्यार नहीं। मैंने निवेदन किया कि "ऐसे पण्डितों के साथ आप की ओर से वा आपके प्रतिनिधि के रूप में हम लोग शास्त्रार्थ के लिये सर्वथा उद्यत हैं। आप इतना ही कह सकते हैं कि मुझे वेदों के गम्भीर अनुशीलन का अवसर नहीं मिल सका पर उनमें ऐसी बात नहीं हो सकती जो बुद्धि विरुद्ध हो। मेरी ओर से अमुक विद्वान् इस विषय में आपसे शास्त्रार्थ करने को तैयार हैं। इत्यादि

(७) 'From Yervada Mandir' नामक पुस्तक में महात्मा जी ने लिखा "I readily admit my incompetence in Vedic scholarship" अर्थात् मैं वैदिक विद्वत्ता में अपनी अयोग्यता स्पष्टतया स्वीकार करता हूँ।

(८) ४ अप्रैल १९४७ को बिरला भवन नई देहली की प्रार्थना सभा में भाषण करते हुये महात्मा गांधी जी ने कहा कि—

मैंने तो यजुर्वेद नहीं पढ़ा है लेकिन एक भाई ने लिखा है कि इनमें (कुरान की ओज़ अबिल्ला में) सारी बातें वे ही हैं जो यजुर्वेद में हैं। फिर आप लोग इसका विरोध क्यों करें ?

('धर्मपालन' प्रथम भाग "सस्ता साहित्य मण्डल" देहली द्वारा प्रकाशित पृ० २३)

(९) ५ जून १९४७ को प्रार्थना सभा में भाषण देते हुये महात्मा जी ने कहा कि "मेरे पास संस्कृत का ज्ञान ज़रा-सा है।"

(धर्मपालन प्रथम भाग पृ० २७७)

इन उद्धरणों को यहाँ देने का तात्पर्य इतना ही है कि वेदों के विषय में श्रद्धा रखते हुये भी जैसे कि ४ अप्रैल १९४७ के प्रार्थना भाषण में महात्मा जी ने कहा कि "वेद भगवान में जो

आतें बनाई है वह धर्म का निचोड़ हैं और धर्म मनुष्य प्राणी के जन्म के साथ २ पैदा हुआ है। इसलिये वेद अनादि हैं।"

(धर्मपालन प्रथम भाग पृ० २७)

पूज्य महात्मा जी को उनके गम्भीर अनुशीलन का अवसर नहीं मिल सका और इसी कारण धार्मिक विषयों में उनके विचार अनिश्चित रहे जैसा कि आगे संक्षेप से दिखाया जायगा। भगवद् गीता का उन्होंने विशेष गम्भीरता के साथ अनुशीलन अपनी दृष्टि से किया और १७ नवम्बर १९३२ को 'The Meaning of Shastras' अर्थात् शास्त्रों का अर्थ' इस शीर्षक लेख में उन्होंने यहाँ तक लिखने का साहस किया कि—For me nothing that is inconsistent with the main theme of the Gita is Shastra, no matter where it is found or printed."

"For me Gita is all-sufficient" (See "The Problem of untouchability in India by Mahatma Gandhi. P. 221.)

अर्थात मेरे लिये जो भी गीता के मुख्य विषय या सिद्धान्त से विरुद्ध है वह शास्त्र नहीं चाहे वह कहीं भी पाया जाय वा छपा हुआ हो। मेरे लिये गीता ही सर्वथा पर्याप्त है! यह सचमुच आश्चर्य और खेद की बात है कि वेदों को स्वतः प्रमाण और सबका मूल आधार तथा निर्णायक मानने के स्थान पर जैसा कि 'धर्म जिज्ञासमानानां, प्रमाणं परमं श्रुतिः।" (मनुः) इत्यादि के अनुसार प्राचीन सब शास्त्रकारों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था पूज्य महात्मा जी ने गीता को वह स्थान दे दिया। इस विषय में शेष विचार दूसरे प्रकरण में किया जाएगा। महात्मा गांधीजी

का यह कथन तो सत्य ही है कि मनुस्मृति, महाभारत तथा अन्य स्मृति, आगमादि ग्रन्थों में बहुत से प्रक्षेप हुये हैं।

२४ जून सन् १६२६ के 'नवजीवन' में महात्मा गांधी जी ने लिखा था कि "मैं कई बार लिख चुका हूँ कि जो संस्कृत में लिख डाला गया है वह सब धर्म वाक्य ही नहीं माना जा सकता। उसी प्रकार धर्म शास्त्र के नाम पर चलने वाले मनुस्मृति आदि प्रमाण ग्रन्थों में जो आज हम पढ़ते हैं वह सब मूलकर्ता की कृति है या हो तो वही आज अक्षरशः प्रमाण रूप है ऐसा नहीं मानना चाहिये। मैं स्वयं तो बिल्कुल नहीं मानता।"

'The Meaning oi Shastras' शीर्षक लेख में महात्मा गांधी जी ने एक दूसरे स्थान पर लिखा कि:—

There are numerous Agamas which when examined, contradict one another and which have no binding effect outside the little areas where they find acceptance. If all these books are to be held as binding on Hindus, there is hardly an immoral practice for which it would be difficult to find Shastric sanction and even in the hoary Manu Smriti from which, if verses of doubtful authenticity are not expurgated, one would discover several texts contradicting the loftiest moral teachings to be found spread through out that great book."

(The problem of untouchability in India by Mahatma Gandhi P. 221-222.)

अर्थात कई आगम शास्त्र हैं जिनकी जांच की जाए तो वे

परस्पर विरुद्ध सिद्ध होते हैं और जिनका प्रामाण्य कुछ ही क्षेत्रों में सीमित हैं यदि इन सब को हिन्दुओं के लिये प्रमाण माना जाए तो कठिनाई से कोई ऐसी सदाचार विरुद्ध प्रथा वा क्रिया है जिसके लिये शास्त्रीय विधान न दिखाया जा सके। प्राचीन मनुस्मृति में से यदि सन्देहास्पद प्रमाण के (अथवा प्रक्षिप्त) श्लोक न निकाल दिए जायें तो कई ऐसे श्लोक उसमें प्रतीत होंगे जो उस महान् ग्रन्थ में पाये जाने वाली अत्यन्त उत्कृष्ट सदाचार विषयक शिक्षाओं के विरुद्ध हैं।

१० मई सन् १६४७ के प्रार्थना भाषण में महात्मा जी ने कहा कि "हमारी मनुस्मृति में भी लिखा है कि अछूतों के कान में सीसा डालो। पर मैं कहूंगा कि हिंदू धर्म शास्त्रों की यह असली शिक्षा नहीं है।" (देखो धर्मपालन' प्रथम भाग पृ० १५६)

वस्तुतः "अथ हास्य शूद्रस्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम्" इत्यादि वाक्य जिसका महात्मा जी ने निर्देश किया प्रतीत होता है वृद्ध गौतम स्मृति का है, मनुस्मृति का नहीं तथापि मनुस्मृति में भी इस प्रकार के प्रक्षिप्त वचन अनेक हैं इस में सन्देह नहीं। इस लिये महर्षि दयानन्द ने तो सत्यार्थप्रकाश के ३ य समुल्लास में स्पष्ट लिख दिया कि 'स्मृतियों में मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृति, सब तन्त्र ग्रंथ (इन्हें ही दक्षिण में प्रायः आगम शास्त्रों के नाम से कहा जाता है) सब पुराण, सब कपोल कल्पित मिथ्या ग्रंथ हैं।"

"Woman in the Smritis"

शीर्षक से अंग्रेजी हरिजन के २८ नवम्बर सन् १६३६ के अङ्क में महात्मा जी ने लिखा कि—

"It is sad to think that the Smritis contain

texts which can command no respect from men who cherish the liberty of women as their own and who regard her as the mother of the race. Of course there are in the Smritis texts which give woman her due place and and regard her with deep veneration. The question arises as to what to do with the Smritis that contain texts that are in conflict with other texts in the same Smritis, and that are repugnant to the moral sense. I have already suggested often enough that all that is printed in the name of scriptures, need not be taken the word of God or the inspired word. But every one can't decide what is good or authentic, and what is bad and interpolated. There should, therefore be some authoritative bady that would revise all that passes under the name of scriptures, espurgate all the texts that have no moral value or are contrary to the fundamentals of religion and morality, and present such an edition for the guidance of the Hindus" ('To the Women" by Mahatma Gandhi Page 7-8

अर्थात् यह खेद की बात है कि स्मृतियों में कई वाक्य हैं जिन के लिये उन लोगों के मन में कोई आदर का भाव नहीं हो सकता जो स्त्री जाति की स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं तथा जो

माता के रूप में उस का आदर करते हैं। निस्सन्देह स्मृतियों में ऐसे भी वाक्य हैं जिनमें स्त्रियों को उचित सम्मान योग्य स्थान देते हुए उन्हें पूज्या बताया गया है। प्रश्न यह है कि उन स्मृतियों का क्या किया जाए जिनमें ऐसे श्लोक हैं जो उन्हीं में पाये जाने वाले दूसरे वचनों और सदाचार व धर्म नीति के विरुद्ध हैं। मैंने कई बार कहा है कि धर्म शास्त्र के नाम पर जो कुछ छापा गया है उसे ईश्वरीय वाणी या ईश्वर प्रदत्त ज्ञान मानना आवश्यक नहीं। किंतु प्रत्येक इस बात का निश्चय नहीं कर सकता कि कौनसा अच्छा और प्रामाणिक वचन है और कौन सा बुरा और प्रक्षिप्त वचन है। इसलिये कोई प्रामाणिक संस्था होनी चाहिये जो धर्म ग्रन्थों के नाम से प्रचलित सब ग्रन्थों का संशोधन करे, उनमें से ऐसे सब वाक्यों को निकाल दे जिनकी नैतिक वा सदाचार विषयक उपयोगिता नहीं तथा जो धर्म और सदाचार के मूल तत्त्वों के विरुद्ध हैं और फिर ऐसे (संशोधित) संस्करण को हिंदुओं के मार्ग प्रदर्शन के लिये प्रस्तुत करे।

महात्मा गांधी जी के शब्द महर्षि दयानन्द की भावना के सर्वथा अनुकूल हैं तथा धर्मार्य सभा जैसी संस्थाओं के लिए एक उपयोगी निर्देश देते हैं जिनसे अवश्य लाभ उठाना चाहिये। स्वर्गीय श्री पं० तुलसीराम जी स्वामी तथा सार्वदेशिक सभा के भूतपूर्व सुयोग्य मन्त्री श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय ने मनुस्मृति का अर्थ सहित शुद्ध संस्करण निकाल कर आर्य (हिंदू) जनता की बड़ी प्रशंसनीय सेवा की। अन्य स्मृतियों तथा प्राचीन ग्रंथों के भी ऐसे ही प्रक्षेप रहित शुद्ध संस्करण निकालने से भी बड़ा लाभ हो सकता है।

स्वराज्य, स्वदेशी, आर्य संस्कृति का महत्व, बाल्य विवाह निषेध, पर्दा निषेध, स्त्रियों की शिक्षा तथा उनकी समाज में

उच्च स्थिति, वर्णाश्रम व्यवस्था की उपयोगिता, अस्पृश्यता निवारण, मृतक श्राद्ध निषेध, अवतार निषेध इत्यादि विषयों में महात्मा गांधी जी के विचार महर्षि दयानन्द जी के ही समान थे जिनका आगे निर्देश किया जायगा।

तृतीय अध्याय

वर्णाश्रम व्यवस्था, जाति भेदादि सामाजिक विषयों पर तुलनात्मक अनुशीलन

गत अध्यायों में मैंने महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी जी के जीवन, कार्य तथा सत्य, अहिंसा, पवित्रतादि विषयक कुछ अद्भुत समानताओं और स्वाध्याय विषयक विभिन्नता का उल्लेख किया था। इस अध्याय में मैं सामाजिक दृष्टि से 'वर्णाश्रम धर्म, जाति भेद, अस्पृश्यतादि विषयक दोनों महात्माओं के विचारों का तुलनात्मक अनुशीलन पाठक महानुभावों के सन्मुख रखना चाहता हूँ। महात्मा गांधी जी के लेखों तथा पुस्तकों से उद्धरण देने के अतिरिक्त मैं उनसे अपने पत्र व्यवहार और भेंटों का भी स्थान २ पर उल्लेख करूंगा जिससे यह ज्ञात होगा कि पूज्य महात्मा जी के विचारों में समय २ पर परिवर्तन होता रहा और अन्त में उनके विचार महर्षि दयानन्द के विचारों के प्रायः सर्वथा समान हो गये थे। यह निर्देश करने की आवश्यकता इसलिये है कि महात्मा जी के लेखादि से उद्धरण लेकर जो संग्रह प्रकाशित हुए हैं उनके अध्यन से भी इन विषयों में अनेक महानुभावों को भ्रम बना रहता है। इन परस्पर विरोधों (Inconsistencies) के विषय में पूज्य महात्मा

गांधी ने जुलाई १६४० के हरिजन (अङ्गरेजी) में लिखा था कि:—

'I am not all concerned with appearing to be consistent. In my pursuit after truth, I have discarded many ideas and learnt many new things. Old as I am in age, I have no feeling that I have ceased to grow inwardly and that my growth will stop with the dissolution of the flesh. What I am concerned with, is my readiness to obey the call of truth, my God, from moment to moment" (Harijan 6th July 1940)

अर्थात् मुझे सम्बद्ध प्रतीत होने की बिल्कुल चिंता नहीं है सत्य की खोज में मैंने बहुत से पुराने विचारों का परित्याग कर दिया है और बहुत सी नई चीजें सीखली हैं। यद्यपि मैं आयु में वृद्ध हूं तथापि मैं यह अनुभव नहीं करता कि मेरा आन्तरिक विकास रुक चुका है अथवा मृत्यु के साथ ही मेरा विकास समाप्त हो जायगा। जिस वस्तु के साथ मेरा विशेष सम्बन्ध है अथवा जिसकी मुझे विशेष चिंता है वह यह है कि मैं सत्य अथवा अपने परमेश्वर की आज्ञा का प्रतिक्षण पालन करने को उद्यत रहूं।

महात्मा गांधी जी के पुराने लेखों को इस विवेक दृष्टि से पढ़ना अत्यावश्यक है २६ अप्रैल सन् १६३३ के हरिजन (अङ्गरेजी) में महात्मा गांधी जी ने इसी बात को निम्न शब्दों में रक्खा था:—

"In my search after truth, I have discarded

many ideas and have learnt many new things. Therefore when any body finds any Inconsistency between any two writings of mine, he would do well to choose the latter of the two, on the same subject.'

(Harijan, 29th April 1933)

अर्थात् मैंने सत्य की खोज में अनेक विचारों का परित्याग कर दिया है और कई नई चीजें सीखी हैं। इस लिये जब किसी को मेरे दो लेखों में परस्पर विरोध प्रतीत हो तो यह अच्छा होगा कि वह उसी विषय पर लिखे गये लेखों में से पिछले को चुन ले।

इतने प्राक्कथन के पश्चात् अब मैं महात्मा गांधी जी के वर्णाश्रम धर्म, जाति भेदादि विषयक विचारों की महर्षि दयानन्द जी के विचारों से तुलना करना चाहता हूं।

महर्षि दयानन्द जी ने आर्योद्देश्य रत्न माला, में वर्णाश्रम व्यवस्था के विषय में लिखा ४३ वर्ण—जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है वह वर्ण शब्दार्थ से लिया जाता है। ४४-वर्ण के भेद—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि हैं वे वर्ण कहाते हैं। ४५-आश्रम—जिन में अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जायें उन को आश्रम कहते हैं।

४६—आश्रम के भेद—जो सद्विद्यादि शुभ गुणों का ग्रहण तथा जितेन्द्रियता से आत्मा और शरीर के बल को बढ़ाने के लिये ब्रह्मचारी, जो सन्तानोत्पत्ति और विद्यादि सब व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये गृहाश्रम, जो विचार के लिये वानप्रस्थ

और जो सर्व पकार करने के लिये संन्यासाश्रम होता है ये चार आश्रम कहाते हैं।

इन वर्णाश्रमों की सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ और पञ्चम समुल्लासों में विस्तृत व्याख्या करते और इन की आवश्यकता पर उत्तम प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' में लिखा कि 'वर्णाश्रम गुणकर्मों की योग्यता से मानता हूं।" (मन्तव्य सं० (६) 'संस्कारविधि' के गृहस्थाश्रम प्रकरण में महर्षि ने इतना और लिखा कि 'यदि गुण कर्मों के योग ही से चारों वर्ण हों तो उस कुल देश और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो. उसी के सदृश गुण, कर्म, स्वभाव हों तो अति विशेष है।"

महर्षि दयानन्द जी क्योंकि वेदादि सत्यशास्त्रों के पूर्ण पण्डित थे इस लिये अपना इस विषय का सिद्धान्त उन्होंने सप्रमाण सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकादि ग्रन्थों में लिख दिया जिसका सारांश ऊपर उद्धृत किया गया है। महात्मा गांधी ने 'यंग इंडया' पत्र के ०६ सित० ६२० के अङ्क में 'हिन्दूधर्म' पर लेख लिखते हुए अपने 'वर्णाश्रम धर्म' विषयक मन्तव्य को निम्न शब्दों में प्रकट किया था:—

I believe in the Varnashrama Dharma in a sense in my opinion strictly Vedic, but not in its present popular and crude sense."

"Varnrshrama is in my opinion. inherent in human nature and Hinduism has simply reduced it to a science. It does attach to birth. A man can not. change his Varna by choice. Not to. abide by one's. Varna. is to

disregard the law of heredity. The division however into inuumerable castes is an unwarr anted liberty taken with the doctrine. The four divisions are all-sufficing.

(Young India 29-9-1920)

अर्थात् 'मैं वर्णाश्रम धर्म को मानता हूँ, परन्तु अपनी समझ के अनुसार ठीक वैदिक अर्थ में। आज कल के अपूर्ण और प्रचलित अर्थ में नहीं। वर्णाश्रम व्यवस्था मनुष्य की प्रकृति के लिये स्वाभाविक है। जन्म के साथ उस का सम्बन्ध अवश्य है। कोई मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार अपना वर्ण बदल नहीं सकता, अपने वर्ण के अनुसार न चलना आनुवंशिक प्रभाव के नियम को न मानना है। हां, जो छोटी २ जातियां बन गई हैं यह तो उस सिद्धान्त का अनावश्यक और केवल मनमाना व्यवहार करना है। चार वर्ण ही सब तरह से काफ़ी हैं।

(नवजीवन ७ अक्तू० १९२०)

इसी लेख में महात्मा गांधी जी ने दूसरे स्थान पर लिखा "ये चार विभाग मनुष्य के व्यवसाय के सूचक हैं। वे सामाजिक व्यवहार की मर्यादा नहीं बनाते। ये चारों तो कर्तव्य का निर्णय करते हैं।......मेरी सम्मति में तो यह बात हिन्दू धर्म के सनातन तत्त्व के विपरीत है कि एक को तो श्रेष्ठता दी जाय और दूसरे को कनिष्ठ बनाया जाय।"... "ब्राह्मणकुल में जन्म होने के कारण वह प्रधानता से ज्ञानशील है, आनुवंशिक रूप से तथा शिक्षा और अभ्यास के कारण वह दूसरे को ज्ञान देने के लिए सब से अधिक पात्र है। फिर ऐसी कोई बात नहीं है जो किसी शूद्र को यथेच्छ ज्ञान प्राप्त करने से रोक सके"...परन्तु जो ब्राह्मण अपने ज्ञान के अधिकार के बल पर अपने अन्न और

श्रेष्ठ होने का दावा करता है उस का पतन हो जाता है।"

(नव जीवन ७ अक्तू० १९२१)

इन उद्धरणों में महात्मा जी ने केवल ४ वर्णों को ही सर्वथा पर्याप्त बताते हुए वर्तमान जाति भेद का जिसने हिन्दू समाज को असंख्य जाति उपजातियों में विभक्त कर रखा है स्पष्ट विरोध किया है किन्तु वर्णों को ४ मानते और वर्तमान जाति भेद का जो ऊंच नीच के भाव का स्पष्टतया समर्थक है विरोध करते हुए भी महात्मा गांधी जी ने जन्म के साथ उसका सम्बन्ध और उसकी अपरिवर्तन शीलता मानी थी।

४ जनवरी सन् १९३१ के Young India में महात्मा जी ने इस सम्बन्ध में अपने विचार इन शब्दों में प्रकट किये थे:

'I do, however, believe in Varna which is based on hereditary occupations Varnas are four, to mark four universal occupations imparting knowledge, defending the defenceless, carrying on agriculture and commerce, and performing service through physical labour. These occupations are common to all mankind, but Hinduism having recognised them as the law of being, had made use of it in regulating social relations and conduct. When Hindus were seized with inertia, abuse of Varna resulted in innumerable castes, with unnecessary and harmful restrictions as to intermarriage and inter-dining. The Varna has nothing to do with these restrictions. People

of different Varnas may inter-marry and inter-dine. A Brahman who marries a Shudra girl or vice versa, commits no offence against the law af Varna." (Young India 4th Jan. 1931)

अर्थात् मैं आनुवंशिक व्यवसाय वा वृत्ति पर आश्रित वर्णों में विश्वास रखता हूं। ज्ञान देना, निर्बल की रक्षा करना, कृषि या व्यापार करना और शारीरिक श्रम द्वारा सेवा करना इन चार सार्वभौम व्यवसायों वा वृत्तियों को सूचित करने के लिये वर्ण चार हैं। ये चार व्यवसाय मनुष्य मात्र में सामान्य हैं किन्तु हिन्दू धर्म ने सामाजिक सम्बन्ध और आचार व्यवहार को नियमित बनाने के लिये वर्णव्यवस्था का उपयोग किया। जब हिन्दुओं के अन्दर अकर्मण्यता आ गई तो वर्णों के दुरुपयोग का परिणाम असंख्य जातियों का निर्माण हुआ जिनमें अन्तर्जातीय विवाह और सह भोजनादि विषयक अनावश्यक और हानिकारक प्रतिबन्ध लगाये गये। वर्ण का इन प्रतिबन्धों के साथ कई सम्बंध नहीं। भिन्न-भिन्न वर्णों के लोगों का परस्पर विवाह और भोजन हो सकता है। एक ब्राह्मण जो शूद्रकन्या के साथ विवाह करता है अथवा इसके विपरीत एक शूद्रा जो ब्राह्मण के साथ विवाह करती है वर्ण नियम के विरुद्ध कोई अपराध नहीं करती।

इस उद्धरण में भी पाठक देखेंगे कि महात्मा गांधी जी ने वर्तमान जाति भेद और अन्तर्जातीय विवाह और सहभोजनादि विषयक प्रतिबन्धों को सर्वथा अनावश्यक और हानिक रक तथा वर्णों का आधार आनुवंशिक वृत्ति वा कर्म पर जो ४ प्रकार के ही हो सकते हैं माना है।

अपने वर्णाश्रम धर्म विषयक-विचारों की वर्तमान जाति भेद

और विवाह भोजनादि विषयक प्रतिबन्धों से भिन्नता प्रकट करते हुये महात्मा गांधी जी ने ब्राह्मण अब्राह्मण समस्या पर कडलोर (मद्रास संस्थानान्तर्गत) में भाषण करते हुये कहा था:—

"It (Varnashrama) has nothing to do with superiority or inferiority. The customs about eating, drinking and marriage are no integral part of Varnashrama Dharma. Fight by all means the *monster* that passes for Varnashrama to day, and you will find me working side by side with you. My Varnashrama enables me to dine with any body who will give me clean food, be he Hindu. Muslim, Christian Parsi, what ever he is My Varnashrama accomodates a pariah girl under my own roof as my own daughter. My Varnashrama accomodated many Panchama families with whom I dine with the greatest pleasure; to dine with whom is a privilege"

Quoted from "The Teachings of Mahatma Gandhi P. 580

अर्थात् वर्णाश्रम का ऊंच नीच से कोई सम्बन्ध नहीं। खान पान और विवाह विषयक प्रथाएं वर्णाश्रम धर्म का कोई आवश्यक भाग नहीं हैं। आजकल जो राक्षस वर्णाश्रम के नाम से माना जाता है उसके विरुद्ध सब साधनों से युद्ध करो और तुम मुझे अपने साथ कार्य करते हुये पाओगे। मेरा वर्णाश्रम मुझे किसी के भी साथ जो मुझे शुद्ध भोजन दे—चाहे वह हिन्दू,

मुसलमान, ईसाई या पारसी हो-जाने की अनुमति देता है। मेरा वर्णाश्रम बहुत से पञ्चम परिवारों को अपने पास रखने और उनके साथ अत्यधिक हर्ष के साथ भोजन करने का मुझे अधिकार देता है।"

वर्ण व्यवस्था, जाति भेद और अस्पृश्यता का सम्बन्ध

इन ऊपर दिये उद्धरणों से पाठकों को महात्मा जी के सन १९३१ तक के विचारों का आभास मिलेगा जिनमें वर्तमान असंख्य जातियों का विरोध करते हुये भी ४ वर्णों का आधार जन्म पर भी माना गया था। सन् १९३२ में मुझे पूज्य पाद महात्मा जी से इन विषयों में पत्र व्यवहार और दो बार भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसके कुछ अंशों का इस प्रसङ्ग में उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

१० दिसम्बर १९३२ को बंगलौर से पूज्य महात्मा गांधी जी को (जो उन दिनों यरवडा जेल में थे) पत्र भेजते हुये मैं ने लिखा कि—

"अस्पृश्यता निवारण विषयक प्रचार करते हुये मेरा यह दृढ़ निश्चय हुआ है कि जब तक जन्म मूलक ऊंच नीच का भाव लोगों के दिलों में जमा रहेगा और उसे निर्मूल करने का यत्न न किया जायेगा तब तक अस्पृश्यता निवारण के प्रचार से काम न चलेगा। यह लिखने की कृपा करें कि आपका इस विषय में क्या विचार है। क्या आप यह नहीं मानते कि अस्पृश्यता का भाव जन्म मूलक जाति भेद की ही भावना का परिणाम स्वरूप है अतः उसका समूल नाश तभी हो सकता है जब कि जन्ममूलक ऊंच नीच के भाव को ही दूर किया जाए। कृपया अपना विचार लिख कर अनुगृहीत करें।"

१४ दिसम्बर सन् १६३२ को यरवडा जेल से इस पत्र का उत्तर देते हुये पूज्य महात्मा जी ने लिखा:—

"यद्यपि जाति के विषय में आपने जो लिखा है वह तथ्य है तद्पि आज जो कार्य हो रहा है उसके साथ जाति सुधार को नहीं मिला सकते हैं। इस बारे में मेरे विचारों को लिखने का अभी मुझे समय नहीं है। समय पाने पर मैं अवश्य लिखूंगा।"

५-१-३३ को बंगलौर से पुनः पत्र भेजते हुये मैंने पूज्य महात्मा जी को लिखा:—

१०-१२-३२ के पत्र में मैंने आपकी सेवा में निवेदन किया था कि 'जब तक जन्म मूलक ऊंच नीच का भाव लोगों के दिलों में जमा रहेगा और उसे निर्मूल करने का यत्न न किया जाएगा तब तक केवल अस्पृश्यता निवारण से काम न चलेगा इत्यादि। इस विषय में अपने विचारों को सूचित करने की मैं ने आपसे प्रार्थना की थी। आपने इस का संक्षिप्त उत्तर देते हुये यह लिखने की कृपा की थी कि 'इस बारे में मेरे विचारों को लिखने का अभी मुझे समय नहीं है। समय पाने पर मैं अवश्य लिखूंगा।"

इस बीच में मुझे 'हमारा कलङ्क' इस नाम से प्रकाशित आपके कुछ लेखों के संग्रह को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। किंतु मुझे खेद है कि आपके वर्णाश्रम धर्म विषयक विचार मुझे सर्वथा अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। किसी लेख में आप वर्ण व्यवस्था जन्म पर आश्रित मानते हैं और किसी दूसरे लेख व भाषण में उसका आधार आप गुण कर्म पर बताते हैं जिससे, क्षमा करें, पाठकों के हृदय पर ऐसा प्रभाव होता है कि आप इस विषय में किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुंच सके अथवा आपके विचारों में परिवर्तन होता गया है। इस विषय

में आपके विचार को जानना जनता के लिये आवश्यक है क्योंकि यदि आप वर्णव्यवस्था को जन्म मूलक मानते हैं जैसे कि "Varnashrama does attach to birth. A man can not change his Varna by choice." (Young India Oct. 12 1921,) इत्यादि शब्दों से प्रतीत होता है तो संकर मूलक जातियों के अस्तित्व अथवा अस्पृश्यता आदि से भी पूर्ण इन्कार नहीं किया जा सकता जिनका कई नवीन स्मृतियों आदि में वर्णन पाया जाता है। इसलिये क्या मैं आपकी सेवा में फिर निवेदन करूं कि इस विषय में अपनी स्थिति को स्पष्ट करने की कृपा करें क्योंकि अनेक सुशिक्षित सज्जनों को भी इसके बारे में सन्देह बना हुआ है।" इत्यादि।

७-१-३३ को यरवदा जेल से इस पत्र के उत्तर में पूज्य महात्मा गांधी जी ने यह लिखने की कृपा की:—

भाई धर्मदेव!

तुम्हारा पत्र मुझे बहुत ही अच्छा लगा है। वर्णाश्रम धर्म के विषय में जो मेरे लेख आज तक निकल चुके हैं उस पर से किसी को मेरा निश्चयात्मक अभिप्राय नहीं मिल सकेगा यह तुम्हारा कहना वास्तविक है। क्योंकि जितना निश्चय मैं लेखों में बता सका हूँ उससे आगे मैं नहीं पहुँच सका था। अब कुछ ज्यादा निश्चय पर अवश्य पहुंचा हूँ और सम्भव है अब मेरे सामने चित्र स्पष्ट दीख पड़ता है। मैं संशयात्मक भाषा में लिख रहा हूँ क्योंकि जब तक मैंने आज तक के मेरे विचार नहीं लिखे हैं तब तक मुझको पता नहीं चलेगा। मेरा इरादा अवकाश मिलने से इसी आन्दोलन

के लिये वर्णाश्रम पर एक लेख लिखने का हो रहा है।"
इत्यादि।

यह पत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसमें पूज्य महात्मा जी ने सरलता पूर्वक इस बात को स्वीकार किया है कि उनके वर्णाश्रम धर्म विषयक विचार ७ जनवरी १९३३ तक अनिश्चित थे और वे इस विषय में किसी निश्चित परिणाम पर न पहुंच सके थे। इसलिये तब तक के उनके इस विषय के लेखों को प्रामाणिक मानना ठीक नहीं।

१२-१-१९३३ को उपर्युक्त पत्र का बंगलौर से उत्तर देते हुए मैंने लिखा कि "आपने जिस उत्तम रूप में मेरे पत्र में निर्दिष्ट बातों को लिया है और जिस सरलता से उसका उत्तर दिया है वह आप जैसे पूज्य महात्माओं में ही पाई जाती है। यह जान कर अत्यन्त हर्ष हुआ कि वर्णाश्रम धर्म के विषय में अब आप अधिक निश्चय पर पहुंचे हैं और शीघ्र ही इस विषयक एक लेख लिखने वाले हैं। एक वेदादि सत्य शास्त्र प्रेमी के रूप में इस विषयक निम्न बातों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करने की धृष्टता करता हूं, जिसके लिये आशा है क्षमा करेंगे और उन पर यथोचित विचार करेंगे।

(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं, जातियां नहीं। यदि ये परस्पर सर्वथा भिन्न जातियां हों तो आकृति देखते ही उनकी पहचान की जा सके जैसे कि गाय, बैल, गधे, घोड़े इत्यादि की की जा-सकती है क्योंकि "आकृतिर्जाति लिङ्गाख्या", समानप्रसवात्मिका जातिः" यही गौतम मुनिकृत न्यायदर्शन में जाति का लक्षण बताया है। उस अवस्था में ब्राह्मण की क्षत्रिया स्त्री से सन्तान ही न हो सके किंतु वर्णों में इस प्रकार का कोई भेद नहीं पाया जाता। वर्ण शब्द का अर्थ ही "व्रियन्ते गुणकर्मस्वभावादिभिरिति 'वर्णाः'" यह है अर्थात्

गुण कर्म स्वभावादि से जिनका वरण अथवा चुनाव किया जाए। जाति-मनुष्य जाति एक है अथवा पुरुष और स्त्री जाति। वर्ण ४ हैं।

(२) ब्राह्मण, क्षत्रियादि शब्द ही विशेष गुणों को सूचित करते हैं उदाहरणार्थ ब्राह्मण का अर्थ ब्रह्म—जानातीति ब्राह्मणः अथवा ब्रह्म-ईश्वर और वेद के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला यह है। क्षत्रिय का शब्दार्थ ही क्षत अर्थात् आपत्ति से त्राण—रक्षा करने वाला ऐसा है। वैश्य शब्द का अर्थ एक देश से दूसरे देश में व्यापारादि के लिये प्रवेश करने वाला है। शूद्र का अर्थ 'शुचा द्रवतीतिशूद्रः। शोक मोहादि युक्त होकर आजीविकार्थ इधर उधर दौड़ने वाले का है। इस प्रकार ये शब्द भी वर्ण व्यवस्था के गुण कर्मानुसार होने की सूचना देते हैं।

(३) वर्ण व्यवस्था का आधार-गुण कर्म-स्वभाव-पर है और वर्ण परिवर्तन संभव है इसके स्पष्ट प्रमाण मनुस्मृति, गीता, महाभारत, उपनिषत्, पुराणादि में पाये जाते हैं तथा ऐतिहासिक उदाहरण भी प्राचीन ग्रंथों में बहुत से मिलते हैं जिनमें से कुछ का नीचे उल्लेख करता हूं।

"शूद्रो ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु, विद्याद् वैश्यात्तथैव च॥"
(मनु अ. १०-४७)

यहां वर्णपरिवर्तन का स्पष्ट प्रतिपादन है। भगवद्गीता के
(चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्म विभागशः॥ ४। १३)
तथा 'शमो दमस्तपः शौचम्' (१८। ४२)
इत्यादिश्लोक इसी का समर्थन करते हैं।

महाभारत वनपर्व अ. १८८, ३१२ के यक्षयुधिष्ठिर संवाद तथा नहुष धर्मराज संवाद में स्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि—

सत्यं दानं क्षमा शीलम्, आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
"यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प, वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प, तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥"
न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य, वृत्तमेव तु कारणम्॥
वृत्ते स्थितश्च शूद्रोऽपि, ब्राह्मणत्वं स गच्छति॥
न कुलेन न जात्या वा, क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्।
चण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मणो यक्षपुंगव॥

इत्यादि महाभारत के सैकड़ों श्लोकों से वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म पर नहीं किन्तु गुण कर्म पर है, यह बात स्पष्टतया ज्ञात होती है। इसी विषय को शुक्रनीति १ ३८ में—

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र, क्षत्रियो वैश्य एव न।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः॥

भविष्य पुराण, भागवत, विष्णु पुराणादि में 'जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः।'

इत्यादि वर्ण परिवर्तन के सैकड़ों उदाहरण दिये हैं जिनमें व्यास जी के पिता पराशर जी को चंडाल स्त्री का पुत्र होते हुये भी ब्राह्मण ऋषि माना गया है। आनुवंशिक प्रभाव (Heredity) से सर्वथा इन्कार नहीं किया जा सकता किन्तु यह तभी संभव है जब ब्राह्मणादि अपने अपने धर्म का पालन करने वाले हों न कि आजकल जब कि लाखों ब्राह्मण वंशज भी रसोइये इत्यादि बन कर शम-दम स्वाध्यायादि से सर्वथा वंचित दिखाई देते हैं।

शेष आप से मिलने का सौभाग्य प्राप्त होने पर जिसके लिये कल जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट साहेब को लिखा है कि १५ जनवरी

३ बजे मध्याह्न आप से मुलाकात की आज्ञा दी जाए। मैं विशेष कारणवश कुछ समय के लिये उत्तर भारत जा रहा हूं अतः आप के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करना चाहता हूं। आशा है आप भी अनुमति देने की कृपा करेंगे।

१७ जनवरी सन् १६३३ को यरवदा जेल में पूज्य महात्मा जी से लगभग २ घण्टे तक भेंट का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसके जाति भेद, वर्णव्यवस्था और अस्पृश्यता विषयक मुख्य निम्न अंश इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

भेंट का संक्षिप्त विवरण

मैंने भेंट के प्रारम्भ में अपने पत्र व्यवहार का निर्देश करते हुये महात्मा जी से अपने विचारों को स्पष्ट करने की प्रार्थना की विशेषतः यह कि वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म पर है या गुण कर्म पर। मैंने उनका ध्यान 'हमारा कलङ्क' नाम से प्रकाशित उन के लेख संग्रह के पृ० ६५ की ओर आकर्षित किया जिसमें लिखा है मैं वर्णाश्रम को मानता हूं और उसके विषय में जन्म और कर्म दोनों को मानता हूं। अब आप किस निश्चय पर पहुँचे हैं यह मैंने प्रश्न किया। क्या आपका मतलब यह है कि जिसका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ है उसके अन्दर ब्राह्मणों के गुण कर्म न होते हुये भी वह ब्राह्मण समझा जाना चाहिये ?

पूज्य महात्मा जी ने इसका उत्तर देते हुये कहा कि मेरी साधना अभी समाप्त नहीं हुई। पर जन्म से मेरा तात्पर्य यह है कि जो जिस कुल के अन्दर उत्पन्न हुआ है उसके अन्दर वैसी ही स्वाभाविक झोंक (इसी शब्द का महात्माजी ने प्रयोग किया फिर अंग्रेजी के Tendency शब्द का प्रयोग किया) होती है इसी अर्थ में मैं वर्णाश्रम में जन्म को मानता हूँ। उन्होंने यह भी इस प्रसङ्ग में कहा कि मेरे विचार में जिसका जन्म जिस कुल में

हुआ है उसे-उसी के धर्म का पालन करना चाहिये अन्यथा वह पतित समझा जाना चाहिये। यदि एक बढ़ई भङ्गी का काम करने लगे (जो स्वयं एक बड़ी उत्तम सेवा का कार्य है) तो भी ठीक नहीं क्योंकि समाज के लिये दोनों की आवश्यकता है। जो ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी ब्राह्मणों के गुण कर्म नहीं रखता उसे आप क्या कहेंगे? इसके उत्तर में महात्मा जी ने कहा कि उसे पतित ब्राह्मण कहूंगा केवल इसलिये कि उसे अपने आदर्श का ध्यान रहे। इस पर मैंने निवेदन किया कि वह स्वाभाविक प्रवृत्ति तभी संभव है जब कि माता पिता ब्राह्मण धर्म का पालन करने वाले हों न कि आजकल, जबकि उनमें से बहुतों ने रसोइये इत्यादि बन कर अपने गुण कर्मों का सर्वथा परित्याग कर रक्खा है। "जो जिस कुल में उत्पन्न हुआ है उसे उसी का पालन करना चाहिये अन्यथा मैं उसे पतित समझता हूं।" महात्मा जी के इस कथन पर मैंने निवेदन किया कि यह कोई आवश्यक नहीं। आपका जन्म वैश्य कुल में हुआ बतलाया जाता है तो क्या इस का यह अर्थ है कि आप व्यापारादि में ही लगे रहें और अब आप जो सच्चे ब्राह्मण धर्म का आदर्श जगत् के सामने रख रहे हैं वह अनुचित कर रहे हैं? 'ब्राह्मण' जैसे पवित्र शब्द का प्रयोग जिसका अर्थ ही यह है कि 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः' अर्थात् ईश्वर और वेद को जानने वाला, एक ऐसे व्यक्ति के लिये कैसे उचित हो सकता है जो इन गुण कर्मों से सर्वथा रहित हो?

इस पर महात्मा जी ने कहा कि आजकल न तो वर्ण हैं न आश्रम। प्रायः सभी शूद्र वा चाण्डाल हो गये हैं। इस लिये आजकल तो जो जिस तरह समाज की सेवा कर सकता है उसे वैसे करनी ही चाहिये। इससे मैं सहमत हूं कि जब वर्णाश्रम धर्म का पालन होता है तभी सन्तान के अन्दर वैसी स्वाभाविक

प्रवृत्ति होती है। ब्राह्मणों को अपनी सन्तान को ब्राह्मण बनाने का ही यत्न करना चाहिये। क्योंकि मुख्य तो आत्मिक जीवन है न कि आजीविका।....................मेरे इस प्रश्न के उत्तर में कि आप तो अन्तर्जातीय भोजन और अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में हैं नां? महात्मा जी ने कहा कि हां, मेरा आश्रम इस का प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस पर मैंने निवेदन किया कि आपको स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर देनी चाहिये कि मैं वर्णाश्रम को मानता हूँ जो गुण कर्मानुसार होता है किन्तु जन्म सिद्ध जाति भेद को नहीं। जैसा कि 'हमारा कलङ्क' के पृ० ३२ में आपने लिखा है कि 'वर्णाश्रम और जाति में कोई मेल नहीं है, जाति तो हिन्दू धर्म पर एक बोझ है।' किन्तु खेद और आश्चर्य की बात तो यह है कि आपके ही लेखों में इससे विरुद्ध भाव भी कहीं कहीं पाये जाते हैं जो सन्देह में डालते हैं। उदाहरणार्थ "हमारा कलङ्क' पृ० १५८ पर लिखा है कि 'ब्राह्मण जन्म से होते हैं लेकिन ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं होता।" इस पर पूज्य महात्मा जी ने कहा कि पूर्वापर या आगे पीछे की सङ्गति जोड़ लेनी चाहिये। अनुवाद में भी अशुद्धि सम्भव है। महादेव भाई मेरे साथ इतने वर्षों से हैं पर कभी २ इनसे भी अनुवाद में अशुद्धि हो जाती है। ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं होता -यही मेरा कथन है। मैंने "जन्मना जायते शूद्रः" इस सुप्रसिद्ध वाक्य को भी प्रस्तुत किया जिस पर महात्मा जी ने कहा कि कई बार मेरी भाषा में अस्पष्टता रह जाती है उस का समन्वय कर लेना चाहिये। मैंने निवेदन किया कि आप के एक एक शब्द को बहुत से लोग वेद वाक्यवत् मानते हैं अतः आप

को भाषा का प्रयोग करते हुए अधिक जिम्मेवारी को काम में लाना चाहिये।

जातिभेद और अस्पृश्यता का सम्बन्ध—

जातिभेद और अस्पृश्यता के सम्बन्ध की ओर मैंने महात्मा जी का ध्यान आकर्षित किया और कहा कि अस्पृश्यता वस्तुतः जन्मसिद्ध जातिभेद का ही परिणाम है अतः अस्पृश्यता को निर्मूल करने के लिये जन्मसिद्ध जातिभेद अथवा Hereditary Caste-sytem का ही विरोध करना आवश्यक है। इस पर महात्मा जी ने कहा कि दोनो ही बुरी प्रथायें हैं। पर जातिभेद को मैं Centiped (कनखजूरे) या बिच्छू के समान और अस्पृश्यता को सर्प के समान मानता हूं। इसी लिये अस्पृश्यता निवारणार्थ अभी अपने ध्यान को केन्द्रित करना चाहता हूं। मेरा यह भी विश्वास है कि अस्पृश्यता के दूर हो जाने से जातिभेद का भाव भी बहुत कुछ दूर हो जायगा। मैंने निवेदन किया कि आप जैसे महात्माओं के प्रयत्न से चाहे अस्पृश्यता कुछ समय के लिये दूर हो जाय किन्तु उस का समूल नाश असम्भव है जब तक जन्मसिद्ध जातिभेद की भावना लोगों के दिलों में जमी हुई है।

हरिजनों को मन्त्र—दीक्षादि

इस के बाद हरिजनों को मन्त्र दीक्षा देने आदि के विषय में बात चली। मैंने प्रश्न किया कि आपके कई लेखों में यह विचार पाया जाता है कि हरिजनों को शूद्र समझा जाए। क्या यह उचित है कि जो हरिजन भाई बहुत सुशिक्षित सदाचारी और निर्मल हैं उन्हें भी शूद्र ही समझा जाए ?

इस पर महात्मा जी ने कहा कि इस विषय में मेरे विचारों में परिवर्तन हुआ है जैसे कि मैं पहले कह चुका हूं मेरी साधना

अभी चल रही है वह समाप्त नहीं हुई है अतः इस विषयक विचार स्थिर हुआ है कि हरिजनों को अस्पृश्य वा पञ्चम न समझा जाए। किस वर्ण में उनको प्रविष्ट किया जाय इस का कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। इस पर मैंने निवेदन किया कि:—

"न कुलेन न जात्या वा, क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्।
चण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मणः युधिष्ठिर॥

इत्यादि महाभारत के वचनानुसार चण्डाल तक ब्राह्मण बन सकते हैं यदि वे ब्राह्मणोचित गुण कर्म धारण करें फिर आज अस्पृश्य समझे जाने वालों की तो बात ही क्या है! इत्यादि

इस महत्त्वपूर्ण भेंट के पश्चात् ४-९-१९३३ को पेशावर छावनी से पूज्य महात्मा जी को पत्र लिखते हुए मैंने निवेदन किया:—

'आपने ५-१-१९३३ के अपने कृपा पत्र में जिस वर्णाश्रम धर्म विषयक लेख को लिखने का इरादा प्रकट किया था कृपया सूचित करें कि उसे लिखने का अभी आपको अवकाश मिला या नहीं। मुझे अभी तक उसे पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ इस लिये पूछ रहा हूँ। यदि वह प्रकाशित हो चुका हो तो सूचित करने का कष्ट उठायें, यदि नहीं तो मैं आपकी सेवा में सविनय निवेदन करना चाहता हूँ कि उसे लिखने से पूर्व 'सत्यार्थ प्रकाश' के ४ थें समुल्लास के वर्णाश्रम विषयक लेख को जिस में थोड़े से पृष्ठ हैं फिर एक बार पढ़ने की कृपा करें जिस में सप्रमाण विचार किया गया है। यह विषय शास्त्रीय होने के कारण गहन है और आप के एक एक अक्षर को वेद वाक्य वत् प्रमाण मानने वालों की संख्या बहुत अधिक है इस लिये मैं आप की सेवा में निवेदन करता हूँ कि उस लेख को संशयात्मक

या सन्देह जनक भाषा में न लिखें जैसे कि "ब्राह्मण जन्म से होते हैं लेकिन ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं होता।" (हमारा कलङ्क पृ० १५८) इत्यादि जिन का मैंने बातचीत में निर्देश करने की धृष्टता की थी। उस लेख की भाषा सर्वथा स्पष्ट होनी चाहिये तथा उस में स्पष्ट शास्त्रीय प्रमाणों का भी मेरे विचार में अवश्य उल्लेख होना चाहिये। जन्म के प्रभाव का यदि निर्देश करना आप अनिवार्य और अत्यावश्यक समझते हैं तो यह स्पष्ट करदेना चाहिये कि वह तभी सम्भव है जब माता पिता वर्ण धर्म का पालन करने वाले हों। आजकल के जातिभेद और वर्ण व्यवस्था में आकाश पाताल का अन्तर है और जैसे कि 'हमारे कलङ्क, पृ० ३२ में लिखा है 'वर्णाश्रम और जाति में कोई मेल नहीं है। जाति तो जरूर ही हिन्दू धर्म पर एक बोझ है।' मैं यह निवेदन इस लिये कर रहा हूं कि आप की स्थिति शास्त्र और तर्क की दृष्टि से सर्वथा स्पष्ट हो जिस का प्रत्येक विवेकशील और विवेकी धर्म प्रेमी समर्थन करके इस पवित्र आन्दोलन को सफल बनाने में अपनी सारी शक्ति का उपयोग कर सके। भाषा के गोलमाल होने से वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।"

महात्मा जी का सरलतापूर्ण उत्तर

१०-२-१९३३ को इस पत्र का अपने कर कमलों से उत्तर देते हुए पूज्य महात्मा जी ने यरवडा जेल से लिखने की कृपा की।

"भाई धर्मदेव"

तुम्हारा खत मिला है अब तो हरिजन साप्ताहिक निकल रहा है उस में वर्णाश्रम के बारे में कुछ न कुछ लिखा करूंगा उसे देखा करो।

सत्यार्थप्रकाश आश्रम से मंगवाकर मैं ४ र्थ समुल्लास पढ़ लूंगा। जो कुछ मैं लिखता हुं वह स्पष्ट रूप से लिखने की चेष्टा

करता हूँ। जिस बारे में मुझे सन्देह रहता है वहां निश्चयात्मक भाषा कैसे निकालूं ?" मोहनदास के आशीर्वाद

इस के बाद पूज्य महात्मा जी के हरिजन, (अंग्रेजी) में जो लेख वर्णाश्रम धर्म विषयक निकले उन में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया था कि वर्णाश्रम जातिभेद से सर्वथा भिन्न वस्तु है और जातिभेद को शास्त्रीय समर्थन प्राप्त नहीं है। वर्णाश्रम का आधार गुण कर्म पर है इस बात को भी उन लेखों में पर्याप्त स्पष्ट कर दिया गया था यद्यपि जातिभेद का किसी अंश में थोड़ा सा समर्थन उन में अवश्य था। जिसके विषय में मुझे अपने विचार शास्त्रीय दृष्टि से पेशावर से १७-२-१९३३ को लिखे निम्न पत्र के रूप में प्रकट करने आवश्यक प्रतीत हुए।

'हरिजन" में तथा अन्यत्र प्रकाशित आपके महत्त्वपूर्ण लेखों को सच्ची श्रद्धा के साथ पढ़ा करता हूं। उनके बार २ पढ़ने में जो आनन्द आता है वह वर्णनातीत है। डा० अम्बेडकर के १३ फरवरी १९३३ के वक्तव्य के उत्तर में अपना वक्तव्य देते हुये आपने जो भाव वर्णाश्रम धर्म के विषय में प्रकाशित किये हैं वे शास्त्रीय दृष्टि तथा सामान्य बुद्धि के इतने अनुकूल है कि उनकी प्रशंसा मेरी शक्ति के बाहर है उन्हें पढ़कर मेरा हृदय उछल पड़ा आपने Out of that spi it of service, it is possible to revive spiritual knowledge····and then those who are in possession of that knowledge and the will touse it for society, will be Brahmans."
इत्यादि भाव पूर्ण शब्दों में वर्णाश्रम धर्म का जो सारांश दिया है यह वही है जिसको मैंने आपके सामने रखने की चेष्टा की थी और जिसे मैं वैदिक धर्म का तत्त्व समझता हूं।

रेवरेन्ड स्टेन्ली जोंस के प्रश्न के उत्तर में भी आपने वर्णाश्रम धर्म और जातिभेद की भिन्नता को

"For me, the Caste- system is not the same as Varnashrama Dharma Varnashrama is based upon the . indu Scriptures. Not so the Caste-system".

(अर्थात् मेरे लिये जाति भेद वही वस्तु नहीं जो वर्णाश्रम धर्म है। वर्णाश्रम का आधार हिंदू शास्त्रों पर है जाति भेद का नहीं) स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन कर दिया है। किंतु 'हरिजन' के प्रथमाङ्क में प्रकाशित डा० अम्बेडकर के सन्देश पर आपने जो टिप्पणी की है मुझे यह लिखने की आज्ञा दें कि वह सन्तोष जनक नहीं है और क्षमा करें, इसकी कई बातें मुझे ठीक नहीं प्रतीत होतीं। डा० अम्बेडकर का दूसरा (१३ ता०) का वक्तव्य निकलने से पूर्व जिस में उन्होंने 'चातुर्वर्ण्य' को भी 'जातिभेद' के साथ मिलाने की सख्त गलती की है मैं समझता था कि मैं उनके विचार से इस विषय में पूर्ण सहमत हूं कि

'The out-caste is by-product of the Castesystem.

(अर्थात् अस्पृश्य जाति भेद का ही परिणाम स्वरूप या उद्भव है।

उसके उत्तर में आपका वर्णाश्रम का समर्थन करना सर्वथा न्याय और युक्ति संगत था किंतु आपका कुछ अंश तक वर्तमान जाति भेद को भी उचित ठहराने का प्रयत्न तथा यह लेख कि—

I do not believe the Caste system, even as distinguished from Varnashrama, to be an odious and vicious dogma.'

……'There is nothing sinful about it'

अर्थात् मैं जाति भेद को वर्णाश्रम से भिन्न रूप में भी एक निन्दनीय और हानिकारक सिद्धांत नहीं मानता इस में कोई पापमय चीज नहीं।

क्षमा करें मुझे माननीय नहीं प्रतीत होता। आप अस्पृश्यता निवारण का जो उद्देश्य बताते हैं कि इस जन्म के ऊंच नीच भाव को दूर किया जाए

The attack on un-touchability is thus an attack upon this 'high and low' ness.

वह वर्तमान जातिभेद का आवश्यक अङ्ग है यह मैं आपकी सेवा में सप्रमाण निवेदन करना चाहता हूँ। 'वर्ण धर्म' में यह जन्मगत उच्चता नीचता या घृणा की भावना नहीं।

किंतु जन्म सिद्ध जाति भेद (Hereditary Caste-system) में वह अवश्य पाई जाती है।

दो तीन प्रसिद्ध स्मृतियों के निम्न वचनों का इस सम्बन्ध में उल्लेख करना पर्याप्त होगा यद्यपि ऐसे सैंकड़ों वाक्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि किस प्रकार जन्म सिद्ध जाति भेद की भावना ऊंच नीच तथा उच्च जातियों के नीच जातियों विशेषतः शूद्रों से घृणा की स्पष्ट समर्थक है।

वर्तमान मनुस्मृति के अ० ६ के ३१७-३१६ श्लोकों में लिखा है।

अविद्वाँश्चैव विद्वाँश्च, ब्राह्मणो दैवतं महत्
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च, यथाग्निर्दैवतं महत्॥ ३१७
एवं यद्यप्यनिष्टेषु, वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः, परमं दैवतं हि तत्। ३।३१६

यहां बताया गया है कि जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है वह विद्वान् हो वा केवल मूर्ख हो परम देवता है। ब्राह्मण चाहे सब प्रकार के पाप कर्म करने वाले हों तो भी वे सर्वथा पूज्य और परम देवता हैं। अब आप ही कहिये यहां केवल जन्म के कारण उच्चता और पूज्यता का भाव पाया जाता है वा नहीं? क्या आप इससे इन्कार कर सकते हैं?

पराशर स्मृति के (जिसे 'सनातनी' भाई कलियुग के लिये सब से अधिक प्रामाणिक मानते हैं) निम्नलिखित २ श्लोक इस विषय में द्रष्टव्य हैं:—

'ब्राह्मणा यानि भाषन्ते, मन्यन्ते तानि देवताः।
सर्वदेवमयो विप्रो, न तद्वचनमन्यथा॥
लघुपराशरस्मृति ६। ६२

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य गां दुष्टां, दुहेच्छीलवतीं खरीम्॥
पराशर स्मृति ८। ३३

इनमें से प्रथम में ब्राह्मण को 'सर्व देवमय और देवताओं का प्रतिनिधि बताते हुए दूसरे में स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण कितना भी दुराचारी क्यों न हो उसकी पूजा करनी चाहिये न कि जितेन्द्रिय शूद्र की। कौन मूर्ख है जो गाय को छोड़ कर क्यों कि वह दुष्टा है सीधी साधी गधी को दोहने लगेगा?

इन श्लोकों में दी उपमा पर भी कृपया ध्यान दीजिये और फिर विचारिये कि जन्मसिद्ध जाति भेद उच्च नीचत्व और घृणा के भाव का (जिसे आप निर्मूल करना चाहते हैं) स्पष्ट समर्थक है वा नहीं? वर्तमान गौतम स्मृति के उन वचनों को आप अवश्य सुन चुके होंगे जिन में कहा है कि, 'अथ हास्य शूद्रस्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां 'कर्णपरिपूरणम् उदाहरणे

जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेदः (अ० १२) अर्थात शूद्र वेद मन्त्र सुन लें तो उसके कानों में सीसा भर देना चाहिये। उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा काट देनी चाहिये। याद करे तो उसको मार डालना चाहिये इत्यादि।

पूज्य पाद महात्मा जी! मैं समझता हूँ इन वाक्यों से (जिन को हम वेद, न्याय और तर्क विरुद्ध होने से अप्रमाण और प्रक्षिप्त मानते हैं) आपको स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि जन्म सिद्ध जातिभेद स्वयम् (यदि अस्पृश्यता को छोड़ भी दिया जाए) उस उच्च नीच भावना और घृणा का प्रबल पोषक है जिसके बारे में आप बिल्कुल ठीक कहते हैं कि—

The idea of inferiority and superiority is to be demolished.'

अर्थात् उच्च नीचता के भाव को नष्ट कर देना चाहिए।

इस जाति भेद Caste system को किसी भी रूप में आपका समर्थन करना और यह कहना कि वह पापमय नहीं है (There is nothing sinful about it) मेरे तुच्छ विचार में संगत और उचित नहीं है। इसीलिये आप के इस लेख से भी कि

"Untouchability is therefore the product not of the Caste system, but of the distinction of the high and low that has crept into Hinduism,"

अर्थात अस्पृश्यता जाति भेद का परिणाम नहीं है किंतु उच्च नीच भेद भाव का जो हिंदू धर्म में घुस गया है।

मैं उपर्युक्त कारण से सहमत नहीं हो सकता। मैं आपसे फिर सविनय निवेदन करना चाहता हूं कि आप वर्णाश्रम धर्म

का प्रबल समर्थन करते हुए यह सर्वथा स्पष्ट कर दें कि आप जन्मसिद्ध जाति भेद का समर्थन नहीं कर रहे जो उस से सर्वथा भिन्न हो गया है और यदि जन्मगत उच्च नीचता और घृणा की भावना को आप पापमयी मानते हैं तो मुझे कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि आप जन्मसिद्ध जाति भेद को वैसा कहने में क्यों संकोच करें। आशा है अब आश्रम से 'सत्यार्थ प्रकाश' मंगवा कर आपने चतुर्थ समुल्लास का वर्णाश्रम प्रकरण पढ़ लिया होगा। अन्य आवश्यक विषयों को भी (विशेषतः ११ वें समुल्लास के 'मूर्ति पूजा' प्रकरण को) यथा समय अवश्य पढ़ने की कृपा करें। मैं मार्च के प्रथम सप्ताह में बंगलौर लौटते हुए संभवतः ४ मार्च को २ बजे मध्यान्ह कुछ समय के लिये आप के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करना चाहता हूं आशा है आप भी अनुमति देने की कृपा करेंगे।

इसके उत्तर में पूज्य महात्मा जी ने अपने मन्त्री श्री महादेव जी देसाई के द्वारा २५-२-३३ को यरवडा जेल से निम्न पत्र भिजवाने की कृपा की

"श्री धर्मदेव जी

आप ४ तारीख को २ बजे अवश्य आइये।

आपका— महादेव देसाई

अनिवार्य कारण वश मैं ४ मार्च को पूना न पहुंच सका। ६ मार्च सन् १९३३ को मध्यान्ह पूज्य पाद महात्मा गांधी जी से भेंट का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसके मुख्य अंशों का जो जाति भेद विषयक थे अगले अध्याय में उल्लेख करूंगा। मूर्ति पूजादि विषयों पर भी उस भेंट में चर्चा हुई थी जिनका उस प्रकरण में उल्लेख होगा।

चतुर्थ अध्याय

वर्णाश्रम व्यवस्था, जातिभेदादि विषयों पर तुलनात्मक अनुशीलन

पिछले अध्याय में मैंने इस विषयक लेख देते हुये अन्त में लिखा था कि "६ मार्च सन् १६३३ को पूज्यपाद महात्मा जी से भेंट का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसके मुख्य अंशों का जो जाति भेद विषयक थे अगले लेख में उल्लेख करूंगा।

यरवडा जेल में ६ मार्च सन् १६३३ की मध्यान्ह ३-२० के लगभग मैं पहुंचा। पूज्य महात्मा जी काले कम्बल पर भूमि पर बैठे हुये थे। श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य जी, श्री शङ्करलाल जी बैंकर आदि अनेक सज्जन भी उनके साथ बैठे हुए थे। मेरे पहुंचने पर पू० महात्मा जी ने मुझे बातचीत प्रारम्भ करने का संकेत किया। मैंने प्रश्न किया कि ऊंच नीच और घृणा के भाव को आप बुरा और पापमय मानते हैं या नहीं ? महात्मा गांधी जी ने कहा कि मैं इसे घोर पाप मानता हूं। मैंने कहा कि तब आप जातिभेद के विषय में कैसे कह सकते हैं कि—

'There is nothing sinful about it'

(अर्थात इस जातिभेद में कोई पापमय बात नहीं) जबकि उसके अन्दर जन्म गत ऊंच नीच और घृणा के भाव हैं इस बात का सप्रमाण सिद्ध किया जा सकता है जैसे कि

'अविद्वांश्चापि विद्वांश्च, ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥"

"एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥"
वर्तमान मनुस्मृति

"दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रियः ।"
(पराशर स्मृति)

शूद्रान्नेनोदरस्थेन यदि कश्चिन्म्रियेत यः ।
स भवेत्सूकरो नूनं, तस्य वा जायते कुले ॥६६॥
गृध्रो द्वादशजन्मानि, सप्तजन्मानि सूकरः ।
श्वा चैव सप्तजन्मानि, इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥६७॥
(वेद व्यास स्मृति अ. ४

इत्यादि से ज्ञात होता है जिनमें कहा कि जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है वह चाहे विद्वान् हो या अविद्वान्, चाहे वह कितने भी पाप कर्म करने वाला या दुराचारी हो वह परम देवता है। दुष्ट स्वभाव वाला भी ब्राह्मण कुलोत्पन्न पूजनीय है किंतु जितेन्द्रिय शूद्र पूजनीय नहीं। शूद्र के अन्न को पेट में रख कर यदि कोई मर जाता है तो वह सुअर की योनि में जन्म लेता है। १२ जन्मों में वह गिद्ध बनता है, सात जन्मों में सुअर और फिर सात जन्मों में वह कुत्ता बनता है ऐसा मनु ने कहा है।

इस पर पूज्य महात्मा जी ने कहा कि मैं जाति भेद या Caste system का यह अर्थ नहीं लेता। मेरे विचार में जातियां (Castes) Trade guilds या व्यापार सङ्घ के समान हैं जिन में घृणा का भाव नहीं।

मैंने निवेदन किया कि आप सारस्वत, गौड़ सारस्वत, सरयू पारीण, कान्य कुब्ज आदि ब्राह्मण जातियों को Trade Guilds के रूप में कैसे रख सकते हैं और उनमें इतने प्रतिबन्ध घृणा सूचक नहीं तो क्या हैं कि शूद्र का अन्न खाने पर

मनुष्य ७ जन्म पर्यन्त गिद्ध, ७ जन्म पर्यन्त सुअर और ७ जन्म पर्यन्त सुअर बनता है। इत्यादि।

इसके उत्तर में पूज्य महात्मा जी ने कहा:—

मैं ऐसे स्मृति वचनों को सर्वथा अमान्य और जलाने लायक समझता हूँ। मैं यह कहने को तैयार हूँ कि ऐसे वचन चाहे वेद में हों चाहे स्मृतियों में, मैं उनको नहीं मान सकता।

मैंने निवेदन किया—वेद में तो कोई ऐसी बात नहीं पाई जाती जो न्याय और बुद्धि के विरुद्ध हो।

महात्मा जी ने कहा—पर ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं कि वेदों में गो-हिंसादि का विधान है। ऐसे लोगों को मुझे यही कहना पड़ता है कि यदि वेदों में ऐसी बातों का विधान है तो उन्हें मैं अपौरुषेय और ईश्वरीय नहीं मान सकता क्योंकि मैं शास्त्रार्थ करने को उद्यत नहीं।

इस पर मैंने निवेदन किया कि आपको ऐसे वचनों का सत्यार्थ बताना चाहिये और दो विरुद्धार्थों में से 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' के अनुसार जो अधिक बुद्धि संगत होगा वही अर्थ मान्य समझा जाएगा। यदि आपने वेदों का अधिक अध्ययन नहीं किया तो आप दूसरों से सहायता ले सकते हैं। जो आप की ओर से शास्त्रार्थ करने को तय्यार हों। हम लोग इसके लिये उद्यत हैं। यदि आप इस तरह कहने लगेंगे कि यदि वेदों में ऐसा (पशु हिंसादि) विधान है तो मैं उन्हें अपौरुपेय नहीं मानता तो नास्तिकता फैल जायगी जैसे कि श्री गौतमबुद्ध के स्वयं नास्तिक न होते हुए भी ऐसी स्थिति (Attitude) लेने के कारण उनके शिष्यों में फैली। यह आपका विचार ठीक है कि वे (गौतमबुद्ध) नास्तिक न थे। किंतु उनके अनुयायियों में नास्तिकता फैलने का यही कारण हुआ।

इस पर पूज्य महात्मा जी ने कहा—यह शिष्यों की जड़ता है।

मैंने निवेदन किया—पर ऐसा प्रायः हो जाता है, इसी लिये आपको बहुत अधिक सावधान होने और अपनी उत्तरदायिता को अधिक समझने की आवश्यकता है।

पू० महात्मा जी ने इस बात को स्पष्ट किया कि मैं जन्म-सिद्ध ऊंच नीच और घृणा के भाव का किसी रूप में भी समर्थन नहीं करता और इस अर्थ में जातिभेद या Caste-system का भी पक्ष नहीं लेता। पर वर्णाश्रम को मानता हूं जिसमें ऊंच नीच की कोई भावना नहीं। सब बराबर हैं। जातिभेद और अस्पृश्यता दोनों बुराइयां हैं किंतु जातिभेद को दूर करने के लिये समय की अपेक्षा है और उसकी प्रतीक्षा की जा सकती है किंतु अस्पृश्यता के विष को एकदम दूर किया जाना चाहिए। इसको सहन नहीं किया जा सकता। सुरेश बैनर्जी को मैंने लिखा था कि हां, तुम जातिभेद के विरुद्ध आन्दोलन करते जाओ पर मुझे अपने तरीकों पर चलने दो।

इस पर मैंने कहा:—इसका मतलब है कि आप नीति के रूप में (As a matter of policy) जाति भेद का सीधा विरोध नहीं करना चाहते

पू० महात्मा जी ने निस्संकोच भाव से कहा—हां, यह कहने में कोई हर्ज नहीं। नीति (Policy) दो प्रकार की होती है धर्म और अधर्म। धर्म-नीति का ही नाम 'योगः कर्मसु कौशलम्' के अनुसार युक्ति वा योग है जो बुरी चीज नहीं। इस तरह न चलना मूर्खता है।

जात-पांत तोड़क मण्डल लाहौर के पत्र का निर्देश करते हुये महात्मा जी ने कहा कि वे लोग डा० अम्बेदकर की उक्ति को ठीक

बताते हैं जिस बेचारे को मालूम नहीं कि वर्णाश्रम धर्म क्या चीज़ है। ऐसों को मैं झाड़ देता हूँ ताकि आन्दोलन को हानि न पहुंचे। इत्यादि—

इस भेंट में मूर्ति पूजा के विषय में भी बातचीत हुई किन्तु उसका मूर्तिपूजा के प्रकरण में दोनो महात्माओं के विचारों पर तुलनात्मक दृष्टि से विमर्श करते हुये ही उल्लेख करना उचित होगा। अभी वर्णाश्रम धर्म, जाति भेद, अस्पृश्यतादि विषयों पर ही कुछ अन्य बातों का उल्लेख करना प्रसङ्गानुसार होगा।

१३ मई १६३३ के हरिजन (अंग्रेजी) में महात्मा गांधीजी ने Not by birth but by merit "अर्थात् जन्म से नहीं किन्तु गुण से' इस शीर्षक से एक लेख प्रकाशित किया जिसमें एक विद्वान् द्वारा प्रेषित निम्न श्लोकों को अंग्रेजी अनुवाद सहित उद्धृत किया। पाठकों को स्मरण होगा कि इनमें से अनेक श्लोकों का मैंने अपनी दो भेंटों और पत्र व्यवहार में उद्धरण दिया था। यह स्पष्ट है कि पूज्य महात्मा गांधी जी इन श्लोकों में स्पष्टतया वर्णित गुण कर्म से वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त से सहमत हो गये थे अन्यथा वे इन श्लोकों को अंग्रेजी अनुवाद सहित उद्धृत करने का कष्ट न उठाते। इस उपर्युक्त शीर्षक लेख में उद्धृत ६ श्लोक निम्नलिखित हैं:—

(१) कर्मभिः शुचिभिर्देवि, शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।
शूद्रोऽपि द्विजवत्सेव्यः, इति ब्रह्माब्रवीत्स्वयम्॥

(२) स्वभावः कर्म च शुभं, यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति।
विशिष्टः स द्विजातिर्वै, विज्ञेय इति मे मतिः॥

(३) न योनिर्नापि संस्कारो, न श्रुतं न च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य, वृत्तमेव तु कारणम्॥

(४) सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके, वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितश्च शूद्रोऽपि, ब्राह्मणत्वं नियच्छति॥
(५) धर्मार्थं जीवितं यस्य, धर्मो हर्यर्थमेव च।
अहोरात्रौ च पुण्यार्थं, तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
(६) येन केनचिदाच्छन्नो, येन केन चिदाशितः।
यत्र क्वचन शायी स्यात्, तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
(महाभारत शान्ति पर्व)

(७) सत्यं ब्रह्म तपो ब्रह्म ब्रह्म चेन्द्रिय निग्रहः।
सर्वभूते दयाब्रह्म, एतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥
(पाराशर स्मृतिः)

(८) योगस्तपो दमो दानं, सत्यं शौचं दया श्रुतम्।
विद्या विज्ञानमास्तिक्यम्, एतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥
(वशिष्ठ स्मृतिः ६-२०)

(९) सर्वत्र दान्ताः श्रुतिपूर्णकर्णाः,
जितेन्द्रियाः प्राणिवधान्निवृत्ताः।
प्रतिग्रहे संकुचिताग्रहस्ताः।
ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः॥
(वशिष्ठ स्मृतिः ६-२१

इन श्लोकों का अर्थ निम्नलिखित है:—

(१) जिसने उत्तम कर्मों से आत्मा को शुद्ध कर रक्खा है और जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत रक्खा है वह शूद्र भी ब्राह्मण की तरह है यह स्वयं ब्रह्मा ने कहा है।

(२) जिस शूद्र (कुलोत्पन्न) में भी उत्तम और पवित्र कर्म हैं वह श्रेष्ठ ब्राह्मण है ऐसा मेरा मत है।

(३) ब्राह्मण कुल में जन्म, संस्कार, वेदाध्ययन और ब्राह्मण की सन्तान होना, ये ब्राह्मण होने के कारण नहीं, ब्राह्मणोचित सदाचार ही उसका कारण है।

(४) इस संसार में उत्तम आचरण से ही सब ब्राह्मण बनते हैं। जो पूर्ण सदाचारी शूद्र (कुलोत्पन्न) है वह भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है।

(५) विद्वान्, ब्राह्मण उसको जानते हैं जिसका जीवन धर्म के लिये है, धर्म परमेश्वर की आज्ञापालन के लिये है, दिन रात पुण्य कार्य के लिये हैं।

(६) विद्वान् ब्राह्मण उसको जानते हैं जो जिस किसी खाने और पहनने की वस्तु से संतुष्ट रहता है, जो जहां कहीं सो जाता है। जो ऐसा सन्तोषी तथा निरीह तपस्वी है।

(७) सत्य ब्रह्म है, तप ब्रह्म है, इन्द्रियों को जीतना ब्रह्म है, सब प्राणियों में दयाभाव रखना ब्रह्म है। इस प्रकार के ब्रह्म से जो सम्पन्न होना है यही ब्राह्मण का लक्षण है।

(८) योग, तप, दम (मन को वश में रखना) दान, सत्य, पवित्रता, दया, वेद शास्त्र श्रवण, विद्या, विज्ञान, आस्तिकता यह ब्राह्मण का लक्षण है।

(९) जो ब्राह्मण मन को अपने अधीन रखने वाले हैं, जिनके कान वेद मन्त्रों की ध्वनि से परिपूर्ण हैं, जिन्होंने इन्द्रियों को जीत रक्खा है, जो प्राणियों की हिंसा से दूर रहते हैं, जिनका हाथ लेने में बहुत संकुचित रहता है वही लोगों को संसार सागर से तराने में समर्थ होते हैं।

पाठक देखेंगे कि इन श्लोकों में जो महाभारत, वशिष्ठ स्मृति आदि से लिये गये हैं वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म पर न मानकर गुण कर्म स्वभाव पर माना गया है इसी लिये पूज्य महात्मा जी ने शीर्षक Not by Birth but by Merit (जन्म से नहीं किंतु गुण से) यह दिया और इन श्लोकों का अंग्रेजी में ऊपर उद्धृत आशय का अनुवाद प्रकाशित किया

जिन में से विस्तार भय से केवल चतुर्थ और अष्टम श्लोक के उनके किये अंग्रेजी अनुवाद को उद्धृत करना पर्याप्त प्रतीत होता है:—

(4) "It is good conduct alone which makes one a Brahman. A person of good conduct, even though a Shoodra acquires Brahman hood."

(8) A Brahman is one possessed of self-restraint, ansterity, self-control, charity, truth, purity, compassion, knowledge of the Vadas, learned, wisdom, faith."

(Harijan 13th may 1933)

इन के अतिरिक्त २८ सि- १९३१ के हरिजन (अंग्रेजी) में वर्णाश्रम धर्म पर लेख लिखते हुए पूज्य महात्मा जी ने स्पष्ट लिखा कि:—

One does not become a Brahman., by calling one self a Brahman. Not until a man reveals in his life the attributes of a Brahman can he deserve that name."

अर्थात् अपने को ब्राह्मण कहने से कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता। जब तक कोई मनुष्य अपने जीवन में ब्राह्मण के गुणों को प्रकट नहीं करता तब तक वह ब्राह्मण कहलाने के योग्य नहीं हो सकता।

पाठक अनुभव करेंगे कि यह स्थिति महर्षि दयानन्द जी के वेद शास्त्रसम्मत सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल और म० गांधी जी के सन १९३३ के पूर्व लिखे लेखों व भाषणों में प्रकाशित

विचारों से भिन्न है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि पूज्य महात्मा गांधी जी के वर्णाश्रम धर्म विषयक विचार अन्त में गम्भीर अनुशीलन के पश्चात् महर्षि दयानन्द जी के मन्तव्य के अनुकूल हो गये थे।

इस के पश्चात् १४ सित०. १९४६ को भङ्गी बस्ती. नई देहली में जब पूज्यपाद महात्मा जी से मुझे भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो प्रारम्भ में बात चीत जाति भेद निवारक आर्य परिवार संघ के विषय में हुई। मेरे इस आन्दोलन के विषय में आशीर्वाद मांगने पर महात्मा गांधी जी ने कहा कि मेरे पृथक् आशीर्वाद की क्या आवश्यकता है? वह प्रत्येक शुभ आन्दोलन और कार्य के साथ है ही। मेरे पूछने पर कि आपकी इस से पूर्ण सहमति है नां? पूज्य महात्मा जी ने कहा कि मेरी इस से पूर्ण सहमति हूं। मैं तो अब और भी आगे जाता हूं और कहता हूँ कि जन्म से भंगियों तक के साथ उच्च जाति वालों को विवाह कर लेना चाहिये।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूज्य महात्मा गांधी जी के परिपक्व विचार वर्णाश्रम धर्म और जातिभेद के विषय में वही हो गये थे जो महर्षि दयानन्द जी के थे। वे उन सुधारकंमन्यों में से नहीं थे जो जाति भेद को हानिकारक समझते हुए उस के साथ वर्णाश्रम धर्म को भी भर पेट गालियां देने लग जाते हैं और यह समझते हैं कि हिन्दू धर्म का यह अभिशाप है। इस विषय में महात्मा जी ने अपने विचार प्रकट करते हुए स्पष्ट कहा था कि:—

'I refuse, therefore, to believe that Varnashrama has been the curse of Hinduism as it is the fashion now a days in the South on the

part of some Hindus to day. But that does not mean that you and I may tolerate the hideous travesty of Varnashrama that we see about us to-day. There is nothing in common between Varna shrama and caste. Caste, if you will, is undoubtedly a drag upon Hindu progress, and untouchabilty is an excrescence upon Varnashrama. It is a weedy growth fit only to be weeded out. In this conception of Varna, there is absolutely no idea of superiority or inferiority."

(The Problem of untouchability in India by Mahatma Gandhi P. 65-66)

अर्थात् मैं यह मानने से इन्कार करता हूं कि वर्णाश्रम हिन्दू धर्म का अभिशाप है जैसा कि आज कल दक्षिण के कई हिन्दुओं में कहने का फैशन हो गया है। किन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि आज चारों ओर वर्णाश्रम धर्म के नाम से जो अनर्थ हो रहा है उसे तुम और मैं सहन करते रहें। वर्णाश्रम और जाति में कोई समानता नहीं है। जातिभेद निस्सन्देह हिन्दुओं की उन्नति में बाधक है और अस्पृश्यता वर्णाश्रम पर लादी गई एक बाह्य वस्तु है। यह एक अनावश्यक जंगली उपज है जो उखाड़ देने योग्य है। वर्ण की इस कल्पना में ऊंच नीच का भाव लेशमात्र भी नहीं है।

इस प्रसङ्ग में "वर्णव्यवस्था" इस नाम से 'नवजीवन प्रकाशन मन्दिर' प्रकाशित पुस्तक की (जिस में महात्मा गांधी जी के वर्णाश्रमधर्म पर लिखे उस समय तक के प्रायः सभी लेखों का श्री रामनारायण चौधरी कृत अनुवाद के रूप में संग्रह किया

गया) ३१-५-४५ को लिखी भूमिका से कुछ उद्धरण देना भी मुझे उचित प्रतीत होता है । 'मेरे लेख पढ़ने की कुञ्जी' इस शीर्षक से महात्मा गांधी जी ने वह भूमिका लिखी थी जिस में उन्होंने कहा था कि:—

"मेरा ख्याल यह है कि मनुष्य रोज आगे बढ़ता है या पीछे जाता है, कभी एक जगह नहीं रहता। सारी दुनिया चलने वाली है। इस में कोई अपवाद नहीं है। कोई चीज इस नियम से परे नहीं है। इस लिये अगर मैं यह दावा करूं कि मैं जैसा कल था, वैसा ही आज हूँ या ऐसा नहीं रहूँगा तो यह दावा झूठा है। मुझे ऐसा मोह भी नहीं रखना चाहिये। ....यह सही है कि मेरे लेख या वचन ऐसे होने चाहियें जिन से किसी को गलत ख्याल न हो। मैं ऐसा न लिखूं जिस के दो या ज्यादा मानी हो सकें। यानी मेरा लिखना बोलना, और अमल सत्य और अहिंसा को नजर में रखकर ही हो। मैं कह सकता हूं कि जब से मैं ने अपनी मां से वायदा किया तभी से मैं ऐसा करता आया हूं। सच पूछा जाय तो जब से मैं समझने लगा, तभी से मैं सत्य का पुजारी रहा हूं। लेकिन इसके यह मानी नहीं हैं कि सत्य और अहिंसा को मैंने पूरी तरह देख लिया है या आज भी देखता हूँ। मैं यह मानता हूं कि मुझे सत्य और अहिंसा रोज ज्यादा साफ तौर पर दिखाई दे रहे हैं। इसलिये वर्णाश्रम को जैसा मैं आज देख रहा हूं, वैसा ही मैंने उसे हमेशा देखा है यह नहीं कहा जा सकता। मैंने ऐसा कहा है कि वर्ण और आश्रम हिन्दू धर्म की देन है। आज भी मैं इस कहने पर कायम हूं। मेरी मान्यता के न तो वर्ण रहे और न आश्रम। ये दोनो होने चाहियें धर्म। ऐसा कह सकते हैं कि इन में आश्रम तो गायब ही हो गया है। वर्ण सिर्फ अहंकार की शकल में देखने

में आता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य होने का दावा ही अहङ्कार है। जहां धर्म हो, वहां अहङ्कार का क्या काम ? शूद्र की तो गिनती ही कहां है ? शूद्र यानी नीच ! और अछूत शूद्र या अछूत यानी नीच से भी नीच। इसे धर्म नहीं, अधर्म कहना चाहिये। "गीता के चार वर्ण आज कहां हैं ? वर्ण से जाति अलग चीज है। जातियां बेशुमार (असंख्य) हैं। मैं नहीं जानता कि जातियों के लिये गीता में या दूसरी किताबों में कोई आधार है। गीता में चार वर्ण बताये हैं और वे गुण और कर्म के आधार पर। ....जिस तरह ऊंच-नीच पन मानना धर्म नहीं, अधर्म है, उसी तरह रंग द्वेष या काले गोरे का भेद-भाव भी पाप है। ऊच-नीच पन या रंग द्वेष किसी शास्त्र या मजहबी किताब में देखने में आवे तो वह शास्त्र नहीं। मनुष्य को यह निश्चय करके ही शास्त्र को छूना चाहिये कि शास्त्र, धर्म के खिलाफ (विरुद्ध) कोई बात कह ही नहीं सकता।"

(वर्णव्यवस्था–महात्मा गान्धी कृत पृ० ५-६) उपर्युक्त भूमिका में "वर्ण और आश्रम हिन्दू धर्म की देन है। ऐसा एक वाक्य आया है इस पर महात्मा गान्धी जी ने स्वयं निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण टिप्पणी दी है जो महर्षि दयानन्द के ही इस विचार का समर्थन करती है कि 'हिन्दू' शब्द विदेशियों का दिया हुआ है। उन्होंने लिखा है :—

'हिन्दू नाम दूसरों का दिया हुआ है। जो धर्म हिन्दू धर्म के नाम से पुकारा जाता है उसका नाम मानव धर्म है, यानि मनुष्यमात्र का धर्म

(वर्ण व्यवस्था पृ० ५ पाद टिप्पणी)

इसके साथ महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के चतुर्दश समुल्लास के पश्चात् स्वमन्तव्यामन्तव्य के प्रारम्भ में जो निम्न रूप से लिखा वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है:—

सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी इसी लिये उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं कि जिस का विरोधी कोई भी न हो सके। यदि अविद्या युक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुये जन जिसको अन्यथा जाने वा माने उस को स्वीकार कोई भी बुद्धिमान नहीं करते, किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक, पक्षपात-रहित विद्वान मानते हैं, वही सब को मन्तव्य और जिस को नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता।

(स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश:)

ऊपर वर्णाश्रम धर्म के विषय में जो विचार महात्मा गान्धी जी ने प्रकट किये हैं उन की महर्षि दयानन्द के ऊपर उद्धृत विचारों से अद्भुत समानता भी द्रष्टव्य है।

महात्मा गान्धी जी अस्पृश्यता को घोर पाप, हिन्दू धर्म पर अक्षम्य कलङ्क और भयङ्कर विष समझते थे यह सर्वविदित है अतः इस विषय में उनके लेखों से उद्धारण देने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने अस्पृश्यता निवारणार्थ जो अत्यन्त अभिनन्दनीय कार्य किया उस के विषय में भी विशेष रूप से कुछ लिखना मुझे अनावश्यक प्रतीत होता है किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से अनुशीलन करते हुए महात्मा गांधी की महर्षि दयानन्द विषयक इस श्रद्धांजलि का उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है कि:—

'Among the many rich legacies that Swami Dayananda has left to us, his unequivocal

ronouncement against un touchability is undoubtedly one."

(Dayananda Commemoration Volume P. I.)

अर्थात् स्वामी दयानन्द ने जो बहुत सी महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति उत्तराधिकार में हमारे लिये छोड़ी है उनकी अस्पृश्यता के विरुद्ध स्पष्ट घोषणा निस्सन्देह उनमें से एक है।

इस से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि महात्मा गांधी जी को अस्पृश्यता निवारणार्थ स्फूर्ति महर्षि दयानन्द से प्राप्त हुई थी। महर्षि दयानन्द के इस विषयक कार्य का निर्देश करते हुए जगद्विख्यात विचारक स्वर्गीय रोमां-रौलां ने ठीक ही लिखा था कि:—

'Dayananda would not tolerate the abominable injustice of the existence of untouchables and no body has been a more ardent champion of their out-raged rights. They were admitted to the Arya Samaj on a basis of equality, for the Aryas are not a caste"

(Life of Rama krishna P. 162)

अर्थात् दयानन्द को अस्पृश्यता के घोर अन्याय की सत्ता असह्य प्रतीत होती थी और उनसे बढ़कर उनके अपहृत अधिकारों का प्रबल समर्थक कोई भी नहीं हुआ। अस्पृश्य वर्ग को आर्य समाज में समानता के आधार पर प्रविष्ट किया गया क्योंकि आर्य समाज कोई जाति नहीं है।

महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के प्रति समर्पित इस श्रद्धांजलि के साथ मैं इस विषय के तुलनात्मक विचार को समाप्त करता हूं।

पञ्चम अध्याय

स्वराज्यादि विषयक विचारों का तुलनात्मक अनुशीलन

महर्षि दयानन्द को साधारणतया लोग एक धार्मिक नेता व समाज सुधारक के रूप में देखते हैं किन्तु वस्तुतः वे जिस सत्य सनातन वैदिक धर्म का उद्धार करना चाहते थे उसके अन्दर राजनीति का भी समावेश होने के कारण स्वराज्य का महत्त्व, उस की प्राप्ति के साधन, स्वरूपादि विषयों पर उन्होंने जितना प्रकाश अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश तथा आर्याभिविनय में डाला उतना अन्य विद्वानों के ग्रन्थों में कहीं भी मिलना बड़ा कठिन है। उदाहरणार्थ स्वराज्य की आवश्यकता, महत्त्व तथा विदेशी राज्य के दूर करने के उपाय इत्यादि विषयक निम्न उद्धरण मैं उनके ग्रन्थों से देना यहां पर्याप्त समझता हूं। सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में महर्षि दयानन्द ने बड़े दुःख के साथ लिखा।

"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या करनी, किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखंड, स्वतन्त्र स्वाधीन निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देश वासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत मतांतर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर

पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न २ भाषा, पृथक् २ शिक्षा, अलग २ व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।"

(सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास)

उपयु क्त उद्धरण में स्वराज्य का महत्त्व जितने प्रबल शब्दों में बताया गया है उसकी उपमा कहीं भी मिलनी असम्भवप्राय है ऐसे समय में जब कि श्री दादा भाई नौरोजी जैसे देशभक्त भी अंग्रेजों के राज्य को ईश्वरीय देन मानते थे महर्षि दयानन्द ने सन् १८७५ में न केवल ये स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य वाक्य लिखे थे बल्कि यह भी लिखा था कि:—"जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे, तभी आर्यावर्त्त वा अन्य भूगोल देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी वर्तते थे. क्योंकि दूध घी. बैल आदि पशुओं की बहुताई से अन्न, रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जबसे विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं के मारने वाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुये हैं तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है,"

(सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास)

महर्षि दयानन्द स्वराज्य के लिये इतने अधिक आतुर थे कि आर्याभिविनय नामक प्रार्थना ग्रन्थ में 'इसे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व' इस यजु ३८। १४ के आधार पर प्रार्थना करते हुये उन्होंने लिखा:—'हे महाराजाधिराज परब्रह्मन ! अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिये शौर्य, धर्म नीति, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुण युक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट

कर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों ॥' (आर्याभिविनय । २ । ३)

'ऋजुनीती नो वरुणः" इस ऋ० ११६ । १७ । १ आधार पर प्रार्थना करते हुये महर्षि दयानन्द ने लिखाः—

'हे महाराजाधिराज परमेश्वर ! आप हमको सरल कोमलत्वादिगुणविशिष्ट चक्रवर्ती राजाओं की नीति को कृपा दृष्टि से प्राप्त कराओ। हम को भी सत्य विद्या से युक्त सुनीति दे के साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये। हे कृपासिन्धो भगवन् ! हम पर सहाय करो जिससे सुनीति युक्त हो के हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े (आर्याभिविनय कपूर ट्रस्ट संस्करण पृ० ५३)

जिस स्वराज्य शब्द के विषय में यह समझा जाता था कि इसका राजनैतिक अर्थ में प्रयोग सबसे पूर्व श्री दादा भाई नौरोजी ने सन् १६०६ में कांग्रेस मञ्च से किया वस्तुतः सन् १८७५ के लगभग उसका प्रयोग महर्षि ने किया था।

विदेशी राज्य होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुये महर्षि ने लिखा—"विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मत भेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण वेद विद्या का अप्रचारादि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई २ लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है। आपस की फूट से कौरव पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो हो गया परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयङ्कर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ा कर दुःख सागर में डुबा

मारेगा। उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र हत्यारे स्वदेश विनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राज रोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाए।" (सत्यार्थ प्रकाश समु १०) इन शब्दों में परस्पर विरोध को दूर कर के सच्ची एकता स्थापित करने के लिये जो मार्मिक अपील की गई है उसे और मान्य लेखक की हार्दिक वेदना को सहृदय पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। महर्षि दयानन्द प्रजातन्त्रवादी थे। वे राजा की सभापति के रूप में वैधानिक स्थिति को मानते थे। सत्यार्थप्रकाश के षष्ठ समुल्लास में राज धर्म और प्रजा धर्म पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा कि "एक को स्वतंत्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये किंतु राजा जो सभापति तदधीन सभा, सभाधीन राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे। यदि ऐसा न करोगे तो प्रजा से स्वतंत्र राज वर्ग राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करेगा।" महर्षि दयानन्द ने वेदादि सत्य शास्त्रों के आधार पर राजा के चुनाव का विधान किया है उसे आनुवंशिक नहीं माना।

महात्मा गाधी जी के विचारः—

पूज्य महात्मा जी के विचार भी इन विषयों में महर्षि दयानन्द जी से बहुत अधिक समानता रखते हैं।

महात्मा गांधी जी ने यङ्ग इण्डिया के २३ जनवरी १९३० के अङ्क में महर्षि दयानन्द के ८ म समुल्लास के शब्दों का ही मानों अनुवाद करते हुये लिखा था कि 'Good government is no substitute for self-government" अर्थात् अच्छा राज्य स्वराज्य का स्थान नहीं ले सकता। एक दूसरे लेख में उन्होंने लिखा था कि 'जब हमारे भाई समझ जायेंगे

कि स्वराज्य क्या वस्तु है तो कौन माई का लाल है जो उसे रोक सके ?' स्वराज्य के बिना अब भारत में शांति आना असम्भव है। जिस जाति में स्वराज्य की लहर पैदा हो जाती है उस जाति में जीवन के सभी कार्यों में एक प्रकार की जागृति हो जाती है। स्वराज्य की पहली सीढ़ी आपके भीतर है। कहावत है कि 'भीतर जगे तो सब जगे।' यदि हम अन्तःकरण से व्यस्त हैं, यदि हम अपनी कामना पर शासन नहीं कर सकते, यदि हम भटक रहे हैं, यदि हम दूसरों को ही अपना शासक बनाये बैठे हैं तो ऐसी अवस्था स्वराज्य हमारे लिये निरर्थक है। स्वराज्य की पाठशाला में आत्म संयम, आत्म-निर्भरता, आत्म सुधार और आत्म निरीक्षण पहला पाठ है।

(महात्मा गांधी के व्याख्यानादि, संग्राहक श्री रामचन्द्र वर्मा गांधी हिंदी पुस्तक भंडार
बम्बई पृष्ठ १०६)

महात्मा गांधी जी के स्वराज्य के आदर्शादि विषयक विचारों को संक्षेप में 'गांधी विचारदोहन-श्री किशोरीलाल मशरूवाला कृत' के अनुसार जो अधिकतर महात्मा जी के अपने शब्दों में हैं यों कह सकते हैं। अंग्रेजी उद्धरणों से बचने के लिये ये वाक्य दिये जा रहे हैं।

१. रामराज्य स्वराज्य का आदर्श है। इसका अर्थ है धर्म राज्य अथवा न्याय और प्रेम का राज्य अथवा अहिंसक स्वराज्य या जनता का स्वराज्य।

२. जनता के स्वराज्य का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति के स्वरा- से उत्पन्न जनसत्तात्मक राज्य। ऐसा राज्य केवल प्रत्येक व्यक्ति के नागरिकता के नाते उसका जो धर्म है उसका पालन करने से ही उत्पन्न होता है।

३. वह करोड़ों का और करोड़ों के सुख के लिये चलने वाला राज्य होता है उसके विधान में जिसे मुख्य अधिकारी की जगह मिली होगी वह राजा कहलाता हो, अध्यक्ष कहलाता हो या कुछ और कहलाता हो, वह प्रजा का सच्चा सेवक होने के नाते ही उस पद पर होगा। प्रजा के प्रेम से वहां टिकेगा और उसके कल्याण के लिये ही प्रयत्न करता रहेगा।

४. उसमें सब धर्म, सब वर्ण और सब वर्ग समान भाव से मिलजुल कर रहेंगे और धार्मिक झगड़े या क्षुद्र स्पर्धा, अथवा विरोधी स्वार्थ सरीखी चीज ही न होगी।

५. उस राज्य में स्त्री का पद, पुरुष के समान ही होगा।

६. उस में लोग केवल लिख पढ़ सकने वाले ही न होंगे बल्कि सच्चे अर्थ में शिक्षा पाये हुये होंगे—अर्थात उन्हें ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिये जो मुक्ति देने वाली और मुक्ति में स्थिर रखने वाली हो।

(गांधी विचार दोहन पृ० ६४-६५)

७. स्वराज्य में मर्यादा और बन्धन के अन्दर हर योग्य आदमी को हथियार रखने की इजाजत रहेगी। दूसरों के आक्रमण के खतरे में ही इस का कारोबार नहीं चलेगा। अतः वह सेना और साधन तैयार रखेगा कि अकल्पित आक्रमण या वैसी परिस्थिति में हुये पहले हमले को रोक सके और पीछे आवश्यक हो ही जाय तो देश को तेजी के साथ तैयार कर लेने की आशा रक्खेगा।

८. स्वराज्य में अगर देश की सेना से जनता को खुद ही भयभीत रहना पड़े और उसी पर सैनिकों को गोलियां चलें तो वह स्वराज्य या रामराज्य नहीं बल्कि शैतान का राज्य होगा। सत्याग्रही का धर्म उस राज्य का भी विरोध करना होगा।

६. देश का सिपाही प्रजा का मित्र हो, प्रजा की आपत्ति के समय के लिये प्राण देने वाला हो तो वह क्षत्रिय है, पर यदि वह प्रजा को डराने वाला और शरीर या शस्त्र के बल से उसे पीड़ित करने वाला हो तो वह लुटेरा है। यदि राज्य की ओर से उसे आश्रय मिलता हो तो वह लुटेरों का राज्य है।" इत्यादि

("गांधी विचार दोहन" पृ० ७४)

विचार शील पाठक महात्मा गांधी जी के इन विचारों की महर्षि दयानन्द के विचारों से अद्भुत समानता का स्वयम् अनुभव कर सकते हैं।

जिस प्रकार महर्षि दयानन्द ने राष्ट्र की उन्नति तथा समस्त देशवासियों में परस्पर प्रेम और ऐक्य उत्पन्न करने के लिये आर्य भाषा (संस्कृत-निष्ठ हिन्दी) की आवश्यकता को अनुभव किया था वैसे ही गांधी जी ने किया था दिसम्बर सन् १६१६ में लखनऊ में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के अधिवेशन के अवसर पर काशी के एक महाराष्ट्रीय सज्जन ने महात्मा गांधी जी से भेंट करते हुए यह प्रश्न पूछा था कि 'क्या आप यह आवश्यक समझते हैं कि राष्ट्रीय सभा का कार्य राष्ट्र भाषा हिन्दी में ही हुआ करे?' महात्मा जी ने उत्तर दिया—जरूर। हिन्दी की भाषा में जब तक सब सार्वजनिक कार्य नहीं होगा तब तक देश उन्नति नहीं हो सकती। राष्ट्रीय सभा में जब तक राष्ट्रभाषा द्वारा ही सब काम न हों तब तक स्वराज्य नहीं मिल सकता।"

(महात्मा गांधी के व्याख्यानादि पृ० ११०)

महर्षि दयानन्द के समान ही महात्मा गांधी जी ने भी अनुभव किया था कि हमें स्वराज्य की सच्चे अर्थ में प्राप्ति के लिये सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक शिक्षा विषयक सर्वतोमुखी जागृति की आवश्यकता है। इस विषय में महात्मा गांधी जी।

एक भाषण में कहा था कि "Fight for Swaraj means, not mere political awakening, but an allround, awakening–social, educational, moral, economic and political."

(Quoted in Teachings of Mahatma Gandhi Edited by Jog Pravesh Chandra P. S. 541)

अर्थात् स्वराज्य के लिये युद्ध का अर्थ केवल राजनैतिक जागृति नहीं किन्तु सर्वतोमुखी जागृति है सामाजिक शैक्षणिक, नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक । महर्षि दयानन्द ने शुद्ध स्वदेशी को पूर्णतया अपनाया और उस को न केवल सत्यार्थ-प्रकाश अपितु अपने शिष्य राजाओं को आदेश द्वारा पूर्ण प्रचार किया था । महात्मा गांधी ने यंग इण्डिया के २ अप्रेल १६२५ के अङ्क में लिखा था कि—

'Hindu Muslim Unity and Khaddar and removal of un-touchability are to me the foundation for Swaraj.

अर्थात् हिन्दू मुस्लिम एकता, खद्दर और अस्पृश्यता निवारण ये मेरे विचार में स्वराज्य के मूलाधार हैं । इन में खद्दर और अस्पृश्यता निवारण के विषय में महर्षि दयानन्द के विचार महात्मा गांधी के समान थे । वे भी समस्त देशवासियों में एकता चाहते थे । सरसैयद अहमद खान जैसे मुसलमान नेताओं और पादरी स्काट आदि ईसाइयों से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी किन्तु उनकी एकता का मार्ग कुछ पृथक् था । सब से प्रथम एक्य सम्मेलन देहली में सन् १८७७ में उन्होंने ही करवाया था । वे सच्ची हार्दिक एकता मनोवृत्ति में परिवर्तन कराकर उत्पन्न करना चाहते थे जिस किसी तरह से उनकी मांगों को पूरा करके नहीं ।

यहीं दोनों महात्माओं के राजनैतिक विचारों में विशेष अन्तर था।

इस अध्याय की समाप्ति से पूर्व सिन्ध के सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता श्री चोइथराम गिडवानी ने महात्मा गांधी जी के जीवन के अन्तिम दिन (३० जनवरी १९४९) उन से जो भेंट की और जिस का नासिक में कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर २० सि० १९५०,को उन्होंने वर्णन किया उस का देहली के सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र Indian News Chronicle के २२ सि० १९५० के अङ्क से (यही वृत्तान्त अन्य सुप्रसिद्ध पत्रों में था) उद्धरण देना इस प्रसङ्ग में हमें अत्यावश्यक प्रतीत होता है। डा० गिडवानी के भाषण का वृत्तान्त देते हुए वहां लिखा है:—

Dr. Gidwani closed his speech with a startling revelation. It was his last interview with Gandhi Ji on the day of his martyrdom. He cited witnesses. Gandhi Ji was upset over the sufferings of Sind Hindus. 'If What you say is true 'he mused' when India could go to war with Pakistan, for the protection of Kashmir, I do not see why she should not go to war for the protection of Sind Hindus.

("Indian News Chronicle Delhi 22-9-50)

अर्थात् डा० गिडवानी ने अपने भाषण का उपसंहार एक आश्चर्यजनक वार्त्ता सुना कर किया। गांधी जी के बलिदान-दिवस (३० जनवरी १९४८) उनकी अन्तिम भेंट महात्मा जी से हुई। उन्होंने (डा० गिडवानी) साक्षी प्रस्तुत किये। गांधी जी

को सिन्ध के हिन्दुओं की कष्ट कथा सुन कर बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने कहा कि यदि तुम जो कुछ कहते हो वह सत्य है तो यदि भारत काश्मीर की रक्षा के लिये पाकिस्तान के साथ युद्ध करने को जा सकता है तो मुझे कोई कारण नहीं दिखाई देता कि सिन्ध के हिन्दुओं की रक्षा के लिये उसे ऐसा युद्ध करने को क्यों न जाना चाहिये।"

इन शब्दों पर टिप्पणी अनावश्यक है॥

षष्ठ अध्याय

ईश्वर का स्वरूप तथा अवतारवाद विषयक विचारों का तुलनात्मक विचार

पिछले अध्याय में मैंने महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी के स्वराज्य आदि विषयक विचारों का अनुशीलन पाठकों के सामने रक्खा था। इस लेख में ईश्वर का स्वरूप, मूर्ति-पूजादि धार्मिक विषयों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना चाहता हूं। महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी दोनों ही पूर्ण ईश्वर-विश्वासी और ईश्वर भक्त थे यह दोनों के वचनामृतों को संकलित करके मैं पहले दिखा चुका हूं। महर्षि दयानन्द ने ईश्वर के स्वरूप विषयक अपने मन्तव्य को निम्न स्पष्ट शब्दों में वेद के आधार पर आर्य समाज के द्वितीय नियम में प्रकट किया:—

"ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।"

सत्यार्थप्रकाश के स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में महर्षि दयानन्द ने ईश्वर के विषय में अपना मन्तव्य निम्न शब्दों में लिखा 'ईश्वर कि जिसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव, पवित्र हैं जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी. सब सृष्टि का कर्ता, धर्ता, हर्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फल दाता आदि लक्षण युक्त है उसी को परमेश्वर मानता हूं।"

महात्मा गांधी जी का ईश्वर विषयक मन्तव्य

पूज्य महात्मा गांधी जी के ईश्वर विषयक मन्तव्य को उनके लेखों और भाषणों के आधार पर श्री मशरूवाला द्वारा संकलित और महात्मा जी द्वारा संशोधित 'गांधी विचार दोहन' में निम्न शब्दों में प्रकट किया गया है।

१—परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही जीवन का एकमात्र उचित ध्येय है। जीवन के दूसरे सब कार्य यह ध्येय सिद्ध करने के लिये होने चाहियें।

२—जो प्रवृत्तियां इस ध्येय की विरोधी मालूम हों, स्थूल दृष्टि से उनका फल कितना ही ललचाने वाला और लाभदायक जान पड़े तो भी उन प्रवृत्तियों को त्याज्य समझना चाहिये।

३—जो प्रवृत्ति इस ध्येय की साधन भूत जान पड़े वह कितनी ही कठिन जोखिम भरी और स्थूल दृष्टि से हानिकारक प्रतीत हो तो भी अवश्य कर्तव्य है।

४—परमेश्वर का स्वरूप मन और वाणी से परे है। उसके विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि परमेश्वर अनन्त, अनादि, सदा एक रूप रहने वाला, विश्व का आत्मा रूप अथवा आधार रूप और विश्व का कारण है। वह चैतन्य अथवा

ज्ञान स्वरूप है। एकमात्र उसी का सनातन अस्तित्व है। शेष सब नाशवान् है। अतः एक छोटे से शब्द से समझने के लिये हम उसे 'सत्य' कह सकते हैं।

५--इस प्रकार परमेश्वर ही सत्य है और सत्य परमेश्वर है।

६--यह ज्ञान सत्यरूपी परमेश्वर की निर्गुण भावना है।

७--जो कुछ मुझे आज ऐसा धैर्य, न्याय और योग्य प्रतीत होता है कि उसे स्वीकार करते या प्रकट करते मुझे शर्म नहीं लगती जो मुझे करना ही चाहिये और जिसे न करूं तो इज्जत के साथ जी ही न सकूं, वह मेरे लिये सत्य है। वही मेरे लिये परमेश्वर का सगुण रूप है।

८--सत्य की अविश्रान्त खोज किये जाना, तथा जैसा और जितना सत्य जान पड़ा हो उसका लगन के साथ आचरण करना-इसी का नाम सत्याग्रह है और यह परमेश्वर के साक्षात्कार का साधन मार्ग है।"

(गांधी विचार दोहन पृष्ठ १-२)

महात्मा गांधी जी के ईश्वर विषयक जो मन्तव्य ऊपर के वाक्यों में दिये गये हैं उनकी महर्षि दयानन्द के मन्तव्य के साथ अद्भुत समानता है। महर्षि दयानन्द के समान ही महात्मा गांधी जी ईश्वर को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, और जगत् का कर्ता मानते थे। सत्य का मन वचन कर्म से पालन, सत्य स्वरूप ईश्वर की प्राप्ति का मुख्य साधन है इस बात को महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाशादि में अनेक स्थानों पर बताया और लिखा कि "विद्वान् आप्तों का यही मुख्य कार्य है कि उपदेश लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें।"......इनमें से

जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य में धर प्रवृत्त होता है उस से स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर हो कर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं परन्तु 'सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पथा विततो देवयानः' अर्थात् सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है, इस दृढ़ निश्चय के अवलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थप्रकाश करने से नहीं हटते।"

(सत्यार्थप्रकाश प्रारम्भिक भूमिका)

इसी प्रकार महात्मा जी ने लिखा कि:—

'अपने आस पास प्रवर्तित असत्य अन्याय या अधर्म के प्रति उदासीन भावना रखने वाला व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। सत्य के शोधक को इस असत्य अन्याय और अधर्म के उच्छेद के लिये तीव्र पुरुपार्थ करना होता है और जब तक इनका सत्यादि साधनों से उच्छेद करने में वह सफल नहीं होता तब तक अपनी सत्य की साधना को अपूर्ण ही समझता है। अतः असत्य, अन्याय और अधर्म का प्रतिकार भी सत्याग्रह का आवश्यक अङ्ग है।

("गांधी विचार दोहन" पृ० २)

"जिन सत्य और सनातन नियमों द्वारा विश्व का जड़चेतन विधान चलता है उस को अविश्रान्त खोज करते तथा उन के अनुसार अपना जीवन बनाते रहना और असत्य का सत्यादि साधनों द्वारा प्रतिकार करना सत्याग्रह है।"

(गान्धी विचार दोहन पृ० ३)

महात्मा गांधी जी के इन महत्त्वपूर्ण शब्दों के द्वारा महर्षि दयानन्द के एक सच्चे सत्याग्रही के रूप में असत्य और अधर्म निवारणार्थ किये गये कार्य का महत्त्व स्पष्टतया ज्ञात हो सकता

है। अन्याय के निवारणार्थ महात्मा गांधी जी ने राजनैतिक क्षेत्र में सत्याग्रह का प्रयोग किया और जनता से करवाया जो अत्यन्त प्रशंसनीय था किन्तु धार्मिक क्षेत्र में जो असत्य और अधर्म प्रचलित था उस के निवारण में महर्षि दयानन्द जी उन की अपेक्षा अधिक तत्परता से लगे रहे और उस धर्म वेदों पर ही उन का बलिदान हुआ यह निस्संकोच कहा जा सकता है।

महर्षि दयानन्द ने पूर्णयोगी होने के कारण ईश्वर का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया था और उस का योगदृष्टि से साक्षात्कार किया था। महात्मा गांधी जी सरलता पूर्वक स्वीकार करते थे कि वे उस उच्च अवस्था तक न पहुंच सके थे। उन्होंने आत्म कथा में लिखा था कि:—

I have not yet found Him. but I am seeking after Him. I am prepared to sacrifice the things dearest to me in pursuic of this quest. Even if the sacrifice demanded be very life, I hope, I may be prepared to give it (My Experiments with Truth, by Mahatma Gandhi P. 4.)

मैं उस की खोज कर रहा हूं किन्तु मैंने उसे अभी तक पाया नहीं। इस खोज में मैं प्रियतम वस्तुओं का भी परित्याग करने के लिये उद्यत हूं। यदि इस के लिये मेरे जीवन की बलि की आवश्यकता हो तो आशा है मैं इसे देने के लिये भी तैयार होऊंगा।

(७) अक्तूबर १६३६ के 'हरिजन' (अंग्रेजी) में प्रकाशित एक लेख में पूज्य महात्मा जी ने लिखा कि:—

Of course, I have the experience of listen-

ing, not merely of trying to listen to God. The more I listen, the more I discover that I am still far away from God"

(Quoted from "The Unseen Power" by Mahatma Gandhi P. 9)

अर्थात् निश्चय से मुझे न केवल ईश्वरीय आदेश को सुनने के लिये यत्न करने का बल्कि उसे सुनने का अनुभव है। मैं जितना ही ईश्वरीय आदेश को सुनता हूँ मैं अपने को अभी ईश्वर से उतना ही दूर होने का अनुभव करता हूं।

किन्तु ईश्वर पर दृढ़ और अचल विश्वास के अतिरिक्त महात्मा गांधी जी उस की सर्वव्यापकता को स्पष्टतया अनुभव करते थे। २५ मई सन् १६२१ में 'यङ्गइण्डिया' में उन्होंने स्पष्ट लिखा था कि—

I realise His (God's) Omnipresence."

अर्थात् मैं ईश्वर की सर्व व्यापकता का अनुभव करता हूं। १३ जून १६४० के 'हरिजन' में पूज्य महात्मा जी ने किसी सज्जन के पत्र का उल्लेख करते हुए जिसने उनसे ईश्वर के अस्तित्व का निर्विवाद प्रमाण मांगा था लिखा:—

"The writer supposes that I might have realised the existence of a living God. I can lay no such claim. But I do have a living faith in a living God."

(Quoted here from " The Teachings of Mahatma Gandhi" P. 271)

अर्थात् इस पत्र का लेखक यह कल्पना करता है कि मैंने जीवित जागृत परमेश्वर की सत्ता का अनुभव किया होगा। मैं

ऐसा कोई दावा नहीं करता किन्तु ईश्वर में मेरा दृढ़ विश्वास है।

जिस प्रकार महर्षि दयानन्द जी ने वैदिक सत्य शास्त्रों के आधार पर लिखा था कि एक ही ईश्वर के ब्रह्म, परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शंकर, शम्भु इत्यादि अनेक नाम हैं। ऐसे महात्मा गांधी जी ने 'यङ्ग इण्डिया' के २५ नवम्बर १९२६ के अंक में लिखा था कि—

"Though we may know Him by a thousand names, He is one and the same to us all."

(Young India Nov. 25. 1926)

अर्थात् यद्यपि हम उसे हज़ारों नामों से जान सकते हैं पर वह हमारे लिये एक ही है। जिस प्रकार महर्षि दयानन्द जी ने परमेश्वर को दयालु और न्यायकारी बताते हुए इन दोनों का अविरोध सिद्ध करते हुए लिखा कि:—

'न्याय और दया का नाम मात्र ही भेद है क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हों। वही दया कहलाती है जो पराये दुःखों को छुड़ाना।'

[सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास]

इसी प्रकार महात्मा गांधी जी ने २३ जनवरी सन् १९२२ के यंग इण्डिया में लिखा कि—

A man who has the least faith in God and *His mercy which is His Justicc,* Can not hate men, though he must hate their evil ways".

("Teaching of Mahatma Gandhi" P. 265)

अर्थात एक व्यक्ति जिसका ईश्वर में और उसकी दया में

जो उसका न्याय है, कुछ भी विश्वास है मनुष्यों से घृणा नहीं कर सकता यद्यपि उनकी बुराइयों से उसे घृणा अवश्य करनी चाहिये।

इस प्रकार न्याय और दया के अविरोध को महात्मा गांधी जी ने स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया।

अवतार वाद

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में यह प्रश्न उठाया है कि "जो ईश्वर अवतार न लेवे तो कंस रावण आदि दुष्टों का नाश कैसे हो सके?" और इसका निम्न शब्दों में युक्ति युक्त उत्तर दिया है:—

"प्रथम जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है। जो ईश्वर अवतार शरीर धारण किये विना जगत् की उत्पत्ति स्थिति, प्रलय करता है उसके सामने कंस रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं। वह सर्व व्यापक परिपूर्ण हो रहा है, जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। भला इस अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव युक्त परमेश्वर को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिये जन्म मरण युक्त कहने वाले को मूर्ख पन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है? और जो कोई कहे कि भक्त जनों के उद्धार करने के लिये जन्म लेता है तो भी सत्य नहीं क्योंकि जो भक्त जन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं उनके उद्धार करने का सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रादि जगत् को बनाने, धारण और प्रलय करने रूप कर्मों से रावणादि का वध और गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे तो न भूतो न भविष्यति' ईश्वर के सदृश कोई न है, न होगा। और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध

नहीं होता। जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि गर्भ में व मूठी में धर लिया, ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता क्योंकि आकाश अनन्त और सब में व्यापक है। इस से आकाश न बाहर आता न भीतर जाता, वैसे ही अनन्त सर्व व्यापक परमात्मा के होने से उसका आना जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। आना व जाना वहां हो सकता है जहां न हो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक न था जो कहीं से आया? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला? ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्या हीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा? इसलिये परमेश्वर का आना जाना, जन्म मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता।"

(सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास पृ० १९७)

इससे पूर्व भाग में 'ईश्वर अवतार लेता है वा नहीं' यह प्रश्न उठाकर महर्षि ने उत्तर दिया कि 'नहीं' क्योंकि 'अज एकपात्' (यजु. ३।५३) स पर्यगाच्छुक्रमकायम् (यजु. ४०।८) ये यजुर्वेद के वचन हैं। इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि परमेश्वर जन्म नहीं लेता।

उसके पश्चात् अवतारवादियों की ओर से यह प्रश्न उठवा कर कि

'यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानि र्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
(गीता ४।७)

श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि जब २ धर्म का लोप होता है तब २ मैं शरीर धारण करता हूँ। महर्षि दयानन्द जी स्पष्ट शब्दों में उत्तर देते हैं:—

'यह बात वेद विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं। और ऐसा तो हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना

चाहते थे कि मैं युग २ जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूं तो कुछ दोष नहीं क्योंकि "परोपकाराय सतां विभूतयः" परोपकार के लिये सत्पुरुषों का तन मन धन होता है। तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते।

(सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास)

इस प्रकार महर्षि दयानन्द जी की 'अवतार वाद' विषयक स्थिति वैदिक प्रमाणों और युक्तियों की दृष्टि से स्पष्ट है। वे भगवद्गीता को परतः प्रमाण मानते थे अतः उनका उसके सम्बन्ध में उत्तर भी स्पष्ट है। श्रीकृष्ण को ईश्वर का अवतार न मानते हुये भी महर्षि दयानन्द उनके लिये कितने आदर का भाव रखते थे यह सत्यार्थ प्रकाश के ११ वें समुल्लास के निम्न शब्दों से स्पष्ट है :—

"देखो ! श्री कृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उसका गुण, कर्म, स्वभाव सौर चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है" जिस में कोई अधर्म का आचरण, श्री कृष्ण जी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा कर्म कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा और इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी और कुब्जा दासी से समागम, पर स्त्रियों से रास-मण्डल, क्रीड़ादि मिथ्या दोष श्री कृष्ण जी में लगाये हैं। इसको पढ़ पढ़ा सुन सुना के अन्य मत वाले श्री कृष्ण जी की बहुत सी निन्दा करते हैं जो यह भागवत न होता तो श्री कृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों होती ?

(सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास पृ० २१५)

अब महात्मा गांधी जी के अवतार वाद तथा श्री कृष्ण के जीवन विषयक विचारों को देखिये।

महात्मा गांधी और अवतारवाद

२५ सितम्बर सन् १६२४ के यंग इण्डिया में महात्मा गांधी जी ने लिखा कि 'ईश्वर निश्चित रूप से एक है वह अद्वितीय है। वह अथाह और अगोचर है। मनुष्यों का अधिक भाग उसको नहीं जान सका। वह सर्व व्यापक है नेत्रों के विना देखता और कानों के विना सुनता है। निराकार निरवयव है। वह अजन्मा, है। उसका कोई पितामाता वा पुत्र नहीं है तो भी लोग उसे पिता, माता, स्त्री और पुत्र बना कर पूजते हैं। तथापि वह उन में से कोई वस्तु नहीं है।...वेदों में बहुत से देवता हैं जिन को अन्य धार्मिक पुस्तकों में फरिश्ता कहा गया है परन्तु वेदों में केवल एक ही ईश्वर की महिमा गाई गई है।" (यंग इण्डिया २५ सितम्बर १६२४ के लेख का अनुवाद)

१ अक्टूबर, १६२५ के यंग इण्डिया में महात्मा गांधी जी ने लखा—मुझे इस बात का कोई निश्चय नहीं है कि महाभारत के श्री कृष्ण कभी इस भूमण्डल पर हुये हैं। मैं तो ऐसे श्री कृष्ण के सामने सिर झुकाने से इंकार करूंगा जो हत्या का दोषी हो। क्यों कि इस से उसके गौरव को हानि पहुँचती है या उस कृष्ण के आगे कि जिस का अहिंदू एक विषयी युवक के रूप में चित्र खींचते हैं। मैं तो भगवान् श्री कृष्ण को अपने विचार के अनुसार पूर्ण अवतार, एक निर्दोष सत्ता, गीता की वन्शी बजाने वाला और करोड़ों मनुष्यों में जीवन तरङ्ग को उत्तेजित करने वाला समझता हूँ, परन्तु मेरे सामने यह सिद्ध कर दिया जाए कि अन्य वर्तमान ऐतिहासिक पुस्तकों की भांति महाभारत भी एक इतिहास है और महाभारत के कृष्ण से वे कई कार्य सम्पन्न हुए जो उनके मत्थे मढ़े जा रहे हैं, तो इस बात का जोखम उठाते हुए भी कि मुझे हिंदू-धर्म से निकाल दिया जाए मैं वगैर संकोच के कहूँगा कि मैं श्री कृष्ण को

भगवान् का अवतार नहीं मानता, परन्तु मेरे विचार में महाभारत एक गम्भीर धार्मिक पुस्तक है और इसका अधिकांश कल्पित है।" (यंग इण्डिया १ अक्तूबर १६२५ के लेख का अनुवाद)

१० अप्रैल १६२८ के एक लेख में महात्मा गांधी जी ने लिखाः—हम राम के गुण गाते हैं। वे वाल्मीकि के राम नहीं। तुलसी रामायण के भी राम नहीं हैं। तुलसीदास की रामायण मुझे पसन्द है। इसे मैं अद्वितीय पुस्तक मानता हूं तथा एक बार पढ़ना आरम्भ करने पर उकताता नहीं, तो भी हम आज तुलसीदास जी के राम को याद नहीं करते। रामायण के राम वे राम नहीं हैं जिनका नाम लेकर हम भवसागर से पार हो सकें या जिनका नाम दुःख के अवसर पर लिया करें। असह्य दुःख से दुःखी मनुष्य को मैं कहता हूं कि राम नाम लो।

यदि नींद न आती हो तो भी कहता हूँ कि लो राम नाम, लेकिन यह राम तो दशरथ के पुत्र और सीता के पति नहीं; यह तो देह धारी राम नहीं हो सकते। अंगूठे की तरह छोटा सा तो हमारा हृदय और उसमें समाये हुये राम देहधारी कैसे हो सकते हैं ? यह तो न जन्मते और न मरते हैं। इस हेतु स्मरण करने के योग्य देहधारी या अन्य किसी प्रकार के राम नहीं हैं। अनेक बार प्रश्न होता है कि वाली का वध करने वाले राम पूर्ण पुरुष कैसे होंगे। मेरे पास भी ऐसे २ प्रश्न बहुत बार आते हैं, इस लिये मैं मन ही मन हंसता हूं किसी ने यदि छल से या सीधे तौर पर किसी को मारा, तो दस सिर का शरीरधारी रावण हो तो कौनसा भारी काम कर लिया। आज जमाना तो ऐसा है कि बीस क्या असंख्य भुजाओं का भी कोई रावण पैदा हो तो एक लड़का तोप के गोले से उस रावण के असंख्य हाथों और

सिरों को उड़ा दे। उसे हम असाधारणवश्चा न कहेंगे। उसे हम बड़ा राक्षस मानेंगे। हमें तो अन्तर्यामी की पूजा करनी है, जो सब के भीतर सब का स्वामी है। इसके साथ ही वह सब से पृथक् है उन्हीं के सम्बन्ध में हमने गाया कि 'निर्बल के बल राम' जो सब के लिये एक समान है।"

"देहधारी मनुष्य परमेश्वर को अन्य रीत से शीघ्र नहीं पहचान सकता, उसकी कल्पना ज्यादा दूर नहीं दौड़ सकती। इस हेतु वह मानता है कि परमेश्वर ने मनुष्य रूप में अवतार लिया था। हिन्दू धर्म में उदारता की सीमा नहीं, इस लिये मत्स्य, वराह शूकर और नृसिंह को परमेश्वर का अवतार माना गया है। लिखते हैं कि जब धर्म की ग्लानि हो और अधर्म बहुत बढ़ जाये तो धर्म की रक्षा करने के निमित्त ईश्वर अवतार लेता है। यह बात भी उसी सीमा तक सत्य है, जितनी मैंने कही है। जन्म और मरण से रहित का अवतार लेना क्या है? यह बात मानने योग्य नहीं है कि कोई ऐतिहासिक पुरुप ईश्वर के रूप में था ईश्वर कोई ऐतिहासिक पुरुप के रूप में अवतार था।"

(यंग इन्डिया के लेख का अनुवाद प्रताप १० अप्रैल सन् १६२८ के अङ्क से उद्धृत)

इस उद्धरण में पाठक देखेंगे कि महात्मा गान्धी जी ने ईश्वर के देहधारी होने और श्री राम, श्री कृष्ण आदि के रूप में अवतार ग्रहण करने का स्पष्ट खण्डन किया है। राम से तात्पर्य उन्होंने सर्वान्तर्यामी परमेश्वर का लिया है, दशरथ पुत्र रामचन्द्र जी का नहीं।

'गीता की 'अनासक्ति योग' के नाम से की अपनी व्याख्या की भूमिका में महात्मा गांधी ने लिखा :—

'गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान ज्ञान हैं।

परन्तु काल्पनिक हैं। यहां कृष्ण नाम के अवतारी पुरुष का निषेध नहीं है। केवल सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं सम्पूर्णावतार का आरोपण पीछे से हुआ है। अवतार से तात्पर्य है शरीर धारी पुरुष विशेष। जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं, परन्तु लौकिक भाषा में सब को हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में-सब से श्रेष्ठ धर्मवान् है उसे भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है। इस में मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता. इस में न तो ईश्वर के बड़प्पन में कमी आती है, न उसमें सत्य को आघात पहुंचता है। आदम खुदा नहीं लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" जिस में धर्म जागृति अपने युग में सब से अधिक है वह विशेषा-अवतार हैं। इस विचारश्रेणी से कृष्णरूपी सम्पूर्णावतार आज हिन्दू धर्म में साम्राज्य भोग रहा है।"

('अनासक्ति-योग' की भूमिका
२४—६—१९२९ को लिखी।)

इस उद्धरण में अवतार शब्द का प्रयोग श्री कृष्ण के लिये एक विशेष अर्थ में किया गया है पौराणिक सम्मत अर्थ में नहीं। तथापि एक विरोध इस में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। एक ओर तो पूज्य महात्मा जी श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता के विषय में संदेह प्रकट करते हैं और दूसरी ओर इस अर्थ में कि जो पुरुष अपने युग में सब से श्रेष्ठ धर्मवान् होता है उसे भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है।" अथवा जिस में धर्म जागृति अपने युग में सब से अधिक है वह विशेषावतार है।" श्री कृष्ण को सम्पूर्णावतार मानते हैं। इन दोनो स्थितियों का तर्क की दृष्टि से समन्वय करना बड़ा कठिन है।

महर्षि दयानन्द जी की श्री कृष्ण-विषयक धारणा सर्वथा स्पष्ट और युक्ति युक्त है जैसे कि पहले दिखाया जा चुका है। महात्मा जी के अवतार के उपर्युक्त लक्षण के अनुसार भी मत्स्य, कच्छप, वराह (शूकर) आदि को अवतार मानना सर्वथा अशुद्ध ठहरता है। उसे उनकी हिन्दुओं की उदारता बताना वस्तुतः यथार्थ नहीं। इसे तो केवल मिथ्या विश्वास का ही नाम दिया जा सकता है। पौराणिक अवतार वाद के खण्डन में महात्मा गांधी जी ने प्रायः उन्हीं युक्तियों का आश्रय लिया जिनका महर्षि दयानन्द जी ने लिया। किन्तु बाल्यावस्था के प्रबल संस्कारवश वे कई अशुद्ध कल्पनाओं का स्पष्ट निराकरण नहीं कर सके ऐसा प्रतीत होता है। भागवत, ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों में योगिराज श्री कृष्ण के जीवन को जिस गर्हित रूप में चित्रित किया गया है अधिकतर उसको निन्दनीय समझकर ही उन्होंने श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता से इन्कार किया तथा कुछ अहिंसा के प्रबल पक्षपाती होने के कारण, यह भी पाठकों को ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात होगा। गीता के "यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्" इत्यादि श्लोकों के विषय में महर्षि दयानन्द जी के विचार को सत्यार्थ-प्रकाश ७ म समुल्लास के एक उद्धरण द्वारा मैं पहले दिखा चुका हूँ। महात्मा गाँधी जी की इन श्लोकों पर (गीता ४। ७-८) निम्न टिप्पणी अवलोकनीय है" यह श्रद्धालु को आश्वासन है और सत्य की, धर्म की अविचलता की प्रतिज्ञा है। इस संसार में उतार चढ़ाव हुआ ही करता है, परन्तु अन्त में धर्म की जय होती है। सन्तों का नाश नहीं होता क्योंकि सत्य का नाश नहीं होता। दुष्टों का नाश ही है क्यों कि असत्य का अस्तित्व नहीं है। मनुष्य को चाहिये कि इसका ख्याल कर अपने कर्तापन के अभिमान

के कारण हिंसा न करे, दुराचार न करे। ईश्वर की गहन माया अपना काम करती ही रहती है। यही अवतार वा ईश्वर का जन्म है। वस्तुतः तो ईश्वर का जन्म होता ही नहीं।

(अनासक्ति योग-गीता बोध सहित पृष्ठ ६१)

इस प्रकार इस विषय में भी कुछ विशेष अन्तर इन दोनों महापुरुषों के विचारों में नहीं यह स्पष्ट है!

सप्तम् अध्याय

मूर्तिपूजा तथा मृतक श्राद्ध विषयक विचारों का तुलनात्मक अनुशीलन

महर्षि दयानन्द ने मूर्तिपूजा विषयक अपने विचार सत्यार्थ-प्रकाश के एकादश समुल्लास में बड़ी स्पष्टता से प्रकट किये हैं। मूर्तिपूजा को महर्षि दयानन्द घोर अधर्म और पाप समझते थे। उसकी हानियों को उन्होंने निम्न शब्दों में प्रकट किया:—

१—मनुष्यों का ज्ञान जड़ की पूजा से बढ़ नहीं सकता किन्तु जो कुछ ज्ञान है वह भी नष्ट हो जाता है। इस लिये ज्ञानियों की सेवा संग से ज्ञान बढ़ता है, पाषाणादि से नहीं, क्या पाषाणादि मूर्ति पूजा से परमेश्वर को ध्यान में कभी ला सकता है? नहीं-नहीं, मूर्तिपूजा सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई है जिसमें गिरकर चकनाचूर हो जाता है। पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता किन्तु उसी में मर जाता है।...हां, छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान् योगियों के संग से सद्विद्या और सत्य भाषणादि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियां हैं किन्तु मूर्ति-पूजा करते २ ज्ञानी तो कोई नहीं हुआ प्रत्युत सब मूर्ति-पूजक अज्ञानी रह कर मनुष्य जन्म व्यर्थ खो के बहुत से मर गये

और जो अब हैं वा होंगे वे भी मनुष्य जन्म के धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति रूप फलों से विमुख होकर निरर्थ नष्ट हो जायेंगे।....इसलिए मूर्ति पूजन अधर्म है।

दूसरा - उसमें करोड़ों रुपये मन्दिरों में व्यय करके दरिद्र होते हैं और उसमें प्रमाद होता है।

तीसरा—स्त्री पुरुषों का मन्दिरों में मेला होने से व्यभिचार, लड़ाई बखेड़ा और रोगादि उत्पन्न होते हैं।

चौथा—उसी को धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति का साधन मान के पुरुषार्थ रहित होकर मनुष्य जन्म व्यर्थ गमाता है।

पांचवां—नाना प्रकार की विरुद्ध स्वरूप नाम चरित्रयुक्त मूर्तियों के पुजारियों का ऐक्य मत नष्ट होकर विरुद्ध मत में चल कर आपस में फूट बढ़ा के देश का नाश करते हैं।

छठा—उसी के भरोसे में शत्रु का पराजय और अपना विजय माने बैठे रहते हैं। उनका पराजय होकर राज्य और धन का सुख उनके शत्रुओं के आधीन होता है और आप पराधीन भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेक विध दुःख पाते हैं।

सातवां—भ्रान्त होकर मन्दिर २ देश देशान्तर में घूमते-घूमते दुःख पाते, धर्म, संसार और परमार्थ का काम नष्ट करते, चोर आदि से पीड़ित होते, ठगों से ठगाते रहते हैं।

आठवां—दुष्ट पुजारियों को धन देते हैं। वे उस धन को वेश्या परस्त्रीगमन, मद्य, मांसाहार, लड़ाई बखेड़ों में व्यय करते रहते हैं जिससे दाता का सुख का मूल नष्ट होकर दुःख होता है।

नववां—माता पिता आदि माननीयों का अपमान कर पाषाणादि मूर्तियों का मान करके कृतघ्न हो जाते हैं।

दसवां—पुजारी परस्त्रियों के संग और पुजारिन परपुरुषों के संग से प्रायः दूषित होकर स्त्री पुरुष के प्रेम के आनन्द को हाथ

से खो बैठते हैं।

ग्यारहवां—उन मूर्तियों को कोई तोड़ डालता या चोर ले जाता है तब हाहाकार करके रोते रहते हैं।

बारहवां—जड़ का ध्यान करने वाले का आत्मा भी जड़ बुद्धि हो जाता है क्योंकि जड़त्व धर्म अन्तःकरण द्वारा आत्मा में अवश्य आता है। इत्यादि"

(सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास)

महात्मा गांधी जी ने इस विषय में समय-समय पर जो लेख लिखे उन पर निम्न उद्धरणों से प्रकाश पड़ता है:—

"मैं मूर्तिपूजा में अविश्वास नहीं करता। हां, किसी मूर्ति को देखकर मेरे हृदय में तो किसी प्रकार की आदर की भावना जागृत नहीं होती परन्तु मेरा विचार है कि मूर्ति पूजा मानव स्वभाव का एक अङ्ग है। हमें स्थूल उपकरण का सहारा लेना पड़ता है। गिरजाघर में चित्त जितना एकाग्र हो जाता है उतना दूसरी जगह क्यों नहीं होता ? क्या यह मूर्ति पूजा का ही एक भेद नहीं है ? प्रतिमाओं से पूजा-आराधना में सहायता मिलती है। कोई हिन्दू प्रतिमा को स्वयम् ईश्वर नहीं मानता। मैं मूर्ति-पूजा को पाप नहीं मानता।" (नवजीवन ७ अक्तूबर १९२१)
१९ मार्च सन् १९२४ के नवजीवन में महात्मा जी ने लिखा:—

'मूर्ति' पममेश्वर नहीं, वल्कि मूर्ति में परमेश्वर का आरोपण करके लोग उसमें तल्लीन होते हैं। लकड़ी का मनुष्य वना कर मनुष्य का काम उस से नहीं ले सकते, परन्तु चित्र के द्वारा अपने पिता-माता की स्मृति वनाये रखने के लिये चित्रों का प्रयोग करके लाखों सुपुत्र और सुपुत्री क्या बुरा करते हैं ? परमेश्वर सर्वव्यापक है। नर्मदा के एक पत्थर में उस का आरोपण करके परमेश्वर की भक्ति हो सकती है।

(नवजीवन १९ मार्च सन १९२४)

१३ मई सन् १६२५ के नवजीवन में महात्मा जी ने लिखा :—

मूर्तिका अर्थ यदि प्रतिमा किया जाय तो मैं मूर्ति भंजक हूँ। मूर्ति का ध्यान यदि ध्यान करने या सन्मान करने या स्मृति का साधन समझा जाय तो मैं मूर्ति पूजक हूँ। मूर्ति का अर्थ केवल चित्र ही नहीं है। जो एक पुस्तक की भी पूजा नेत्र बन्द करके करते हैं वे मूर्ति पूजक हैं। बुद्धि के प्रयोग के बिना वेदों में जो कुछ लिखा है सबको मानना मूर्ति पूजा है। जितनी बातें भ्रम युक्त हैं वे सब अन्ध विश्वास हैं। सब मूर्ति पूजा हैं। जो हर तरह की रीति को धर्म मानते हैं वे मूर्ति पूजक हैं, इस लिये ऐसे स्थान में मैं मूर्ति भंजक हूं। मैं शास्त्रों के प्रमाण देकर झूठ को सच्चा तथा निर्दयता या शत्रुता को प्रेम बनाकर नहीं देख सकता। इस हेतु और इस प्रकार मैं मूर्ति भंजक हूं। श्लेपार्थक या बनावटी श्लोक बनाकर अछूतों का तिरस्कार या त्याग और औरों की छूत मुझ को कोई नहीं सिखा सकता इस लिये मैं अपने को मूर्ति भंजक मानता हूं।"

(नव जीवन से 'तेज' १३ मई सन् १६२५ में उद्धृत)

इस विपय में महात्मा गांधी जी के सन्देह जनक और कई स्थानों में परस्पर विरुद्ध लेखों से अधिक उद्धरण न देते हुए मैं ६-३-१६३३ को यरवदा जेल में पूज्य महात्मा जी से की भेंट के उस अंश को पाठकों के सन्मुख रखना चाहता हूँ जिस का मूर्ति पूजा से सीधा सम्बन्ध है।

पूज्य महात्मा जी से भेंट

जाति भेदादि विषयक बातचीत के पश्चात् (जिस का पहले उल्लेख किया जा चुका है) मैंने पूज्य महात्मा जी से पूछा:—

आपने पिछले दिनों हरिजन (अंग्रेजी) में लिखा है कि "Temples are an integral part of Hinduism."

अर्थात् मन्दिर हिन्दू धर्म के आवश्यक भाग हैं।

क्या आप मन्दिरों में मूर्तियों का होना आवश्यक मानते हैं?

महात्मा जी ने उत्तर दिया—नहीं।

तब मैंने पूछा—आप आर्य समाज भवन को मन्दिर कहेंगे वा नहीं?

महात्मा जी ने इस का उत्तर 'हां' में दिया। इस पर मैंने कहा कि तब आक्षेप की बात नहीं क्योंकि सभी विद्वान् ऐतिहासिक इस विषय में एक मत हैं कि प्राचीन वैदिक आदि काल में मूर्ति पूजा न थी। इस पर मैंने पुनः प्रश्न किया—आपने 'हरिजन' के प्रथम अङ्क में प्रकाशित एक लेख में लिखा है कि "We are all idolaters" अर्थात् हम सब मूर्ति पूजक हैं। हम आर्य तो मूर्ति पूजक नहीं हैं। आपने सब के लिये ऐसा कैसे लिख दिया?

महात्मा जी—तुम भी समाज मन्दिर में भजनादि करते हो वा नहीं? ऋषि दयानन्द जी की मूर्ति की पूजा करते हो वा नहीं?

मैंने उत्तर दिया कि हम समाज मन्दिर में भजनादि करते हैं पर इस से मूर्ति पूजा का कोई सम्बन्ध नहीं। ऋषि दयानन्द जी की मूर्ति वा चित्रादि की हम कभी पूजा नहीं करते।

महात्मा जी—मूर्ति तो शरीर और किसी भी ठोस चीज को कह सकते हैं। ईश्वर को किसी भी रूप में विशेष रूप से प्रतिष्ठित जानना मूर्ति पूजा है। मैं इसी अर्थ में इस का प्रयोग करता हूं।

मैंने निवेदन किया—पर मूर्ति पूजा का यह प्रचलित अर्थ नहीं।

महात्मा जी—इस से क्या? मैं तो इस अर्थ में प्रयोग कर सकता हूं।

मैं—क्या आप मूर्ति पूजा करते हैं? कृपया यह बताएं क्यों कि कई यह प्रश्न हम लोगों से करते हैं। क्या आप के आश्रम

में मूर्ति पूजा करते हैं? महात्मा जी ने इन दोनो प्रश्नों का उत्तर "नहीं" में दिया। किन्तु साथ ही कहा—पर एक अर्थ में मैं करता भी हूँ। लोगों ने मुझे कहा कि आश्रम में एक मन्दिर बनवालो। मैंने कहा–नहीं, मैदान को ही हम ने मन्दिर बना रक्खा है जहां हम प्रार्थना स्थान समझते हैं।

मैंने पुनः प्रश्न किया—क्या आप को मूर्ति पूजा में श्रद्धा है? महात्मा जी ने उत्तर दिया– मैं इस को पाप नहीं समझता। जिसकी श्रद्धा हो मैं उसे रोकना नहीं चाहता। अपनी पत्नी को भी मैं रोकना नहीं चाहता यदि वह बाल गोपाल की मूर्ति की पूजा करती है। यह तो भावना की बात है।

मैं—भावना से वस्तु का स्वरूप बदल नहीं जाता। (हम लोग वृक्ष के नीचे बैठे थे जहां मिट्टी भी थी) मैंने कहा कि यदि इस मिट्टी को कोई शक्कर भी भावना से खाने लगे तो क्या वह शक्कर बन जायगी?

महात्मा जी—उस व्यक्ति को यह प्रसन्नता तो होगी कि मैं शक्कर खा रहा हूं।

मैं पर साथ ही मिट्टी के खाने से जो हानि होती है उससे भी वह न बच सकेगा। इसलिये यदि आप मूर्ति पूजा को बुरा समझते हैं तो दूसरों को प्रेम पूर्वक समझाने में क्या हानि है कि इससे कोई लाभ नहीं।

महात्माजी—पर यदि मैं इसे (मूर्ति पूजा को) पाप नहीं समझूं तो? मेरी माता जी जब तक विश्वनाथ जी के मन्दिर में जाकर पूजा न कर लेती थीं तब तक कभी भोजन न करती थीं ऐसी चीज को मैं पाप कैसे कहूँ?

मैं—यह बात अलग है। आपकी माताजी के प्रति पूज्य बुद्धि है यह ठीक और उचित ही है। पर इसका यह अर्थ तो नहीं कि वे जो कुछ करती थीं वह सब ठीक ही था। वे तो

अछूतपन को भी मानती थीं जैसे कि आपने आत्मकथा में लिखा है। फिर आप क्या उसको घोर पाप नहीं कहते? इसमें व्यक्ति का प्रश्न न होना चाहिये।

इस पर महात्मा जी ने कहा—पर इससे हानि तो नहीं होती।

मैंने उसका उत्तर देते हुए निवेदन किया कि महमूदगजनवी ने जब सोमनाथ पर आक्रमण किया तो इसी मूर्ति पर विश्वास ने ही देश का नाश करवाया। अन्य भी ऐसे उदाहरण हैं। आर्थिक दृष्टि से मूर्ति पूजा की पुण्यदायकता पर विश्वास से कितनी हानि होती है इसके उदाहरण देते हुए मैंने बताया कि लाखों करोड़ों रुपये इन मूर्तियों और मन्दिरों के निर्माण में नष्ट किये जाते हैं जिनका देशोपयोगी कार्यों में व्यय किया जा सकता था। बंगलौर के विश्वेश्वर पुरम् नामक स्थान में ४ मन्दिरों की लाखों के व्यय से स्थापनादि का जिक्र करते हुए मैंने कहा कि जो मूर्ति अपनी रक्षा नहीं कर सकती वह औरों की क्या करेगी।

इस पर महात्मा जी ने कहा—सोमनाथ मन्दिर में मूर्ति भी रक्षा कर लेती यदि पुजारी उसके लिये प्राण देने को तय्यार हो जाते। उससे ही रक्षा की आशा करना उनकी भूल थी।

मैंने कहा—मूर्तिपूजा ऐसाही अशुद्ध विश्वास उत्पन्नकर देती है। यदि वे अपने प्राण देने को तय्यार हो जाते तो उनकी अपनी शक्ति के प्रभाव से रक्षा हो जाती न कि मूर्ति के द्वारा।

उस के पश्चात् अन्य विषयों पर वार्तालाप हुआ जिस का यहां उल्लेख अनावश्यक है। मुझे यह स्पष्ट ज्ञात हुआ कि महात्मा जी स्वयं मूर्ति पूजा नहीं करते थे और न उनकी मूर्ति पूजा में श्रद्धा थी। पर अधिकतर अपनी पूज्या माता जी में श्रद्धा के कारण वह वे इसे पाप मानने को तय्यार न थे। साथ ही वे

मूर्ति पूजा शब्द का अप्रचलित और अत्यन्त विस्तृत अर्थ में प्रायः प्रयोग कर देते थे जिससे पाठकों को कई बार भ्रम हो जाता था। मैंने इस भेंट के पश्चात् बंगलौर से ११-३-१९३३ को पूज्य महात्मा जी के नाम लिखे अपने पत्र में उनका ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट किया था।

मेरा विश्वास है कि अन्य विषयों की तरह इस विषय में भी जीवन के अन्तिम भाग में पूज्य महात्मा जी के विचारों में पर्याप्त अन्तर आ गया था और उन्होंने मूर्ति पूजा का स्पष्ट शब्दों में खण्डन भी प्रारम्भ कर दिया था।

उदाहरणार्थ १५-३-४६ के 'हरिजन सेवक' में गांधी जी ने एक लेख लिखा जो अविकल रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा:—

"एक भाई ने मुझे अखबार की एक कतरन भेजी है। उस में खबर है कि मेरे नाम का एक मन्दिर बनवाया गया है और उस में मेरी मूर्ति की पूजा की जाती है। इसे मैं मूर्ति पूजा का बेढङ्गा रूप मानता हूं। जिस ने यह मन्दिर बनवाया, उसने अपने पैसे बरबाद किये, गांव के भोले लोगों को गलत रास्ता दिखाया और मेरे जीवन का गलत खाका खींच कर मेरा अपमान किया। इस से पूजा का अर्थ सिद्ध नहीं होता, उलटे अनर्थ होता है। अपने गुजारे के लिये या स्वराज्य के लिये यज्ञ के रूप में कातना ही मेरे विचार में सच्ची पूजा है। तोते की तरह गीता का पारायण करने के बदले उस के उपदेश के अनुसार आचरण करना सच्ची गीता पूजा है। गीता पाठ भी उसी हद तक मुनासिब (उचित) माना जाएगा जिस हद तक वह गीता के उपदेश के अनुसार आचरण करने में मददगार हो। मनुष्य की कमजोरी का नहीं, बल्कि उसके गुणों का अनुकरण ही उस की सच्ची पूजा है। जिन्दा आदमी की मूर्ति बनाकर उसकी

पूजा करने से हम हिन्दू धर्म को पतन की आखिरी सीढ़ी पर पहुंचा देते हैं। मौत से पहले किसी आदमी को पूरी तरह अच्छा नहीं कहा जा सकता, और मौत के बाद भी जिसे उस आदमी में आरोपित गुणों में विश्वास होगा, वही उसे अच्छा कहेगा। सच तो यह है कि अकेला ईश्वर ही मनुष्य के हृदय को जानता है। इसलिये किसी जिन्दा या मरे हुए आदमी को पूजने के बदले जो पूर्ण है और सत्य स्वरूप है, उस ईश्वर को पूजने और उस का भजन करने में सुरक्षितता है। यहां यह सवाल जरूर उठ सकता है कि फोटो रखना भी पूजा का ही एक प्रकार है या नहीं ? फोटो रखने का रिवाज भी खर्चीला तो है मगर उसे निर्दोष समझकर मैं अब तक उस को बर्दाश्त करता आया हूं। अगर उसकी वजह से मैं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से मूर्ति पूजा को तनिक भी बढ़ावा देता होऊं तो उसे भी हास्यास्पद और हानिकारक समझ कर छोड़ दूंगा। मन्दिर मालिक मूर्ति को हटा कर इस मकान में खादी का केन्द्र खोलें तो वह सब तरह इष्ट होगा और फिलहाल जो पाप वह कर रहे हैं उस से बच जायेंगे। उस मकान में गरीब लोग मजदूरी के लिये धुनें और कातें। दूसरे यज्ञ के लिये धुनें और कातें। सब खादी पहनने लगें। यही गीता का कर्मयोग है। जीवन में इस का आचरण करने से गीता की और मेरी सच्ची पूजा की जा सकेगी। दूसरी पूजा हानिकारक है और इसलिये छोड़ने लायक है।"

('हरिजन सेवक' १५-३-४६)

महात्मा जी का यह लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस में उन्होंने सब प्रकार की मूर्ति पूजा को हानिकारक बताया है। पूज्य महात्माजी के ३०-१-४७ को अमर बलिदान के पश्चात् जिस प्रकार की उनकी पूजा की जा रही है वह उनकी शिक्षा तथा भावना के कितनी विरुद्ध है यह भी इन पंक्तियों से सर्वथा

स्पष्ट है। महर्षि दयानन्द जी के विचारों के साथ महात्मा जी के इन विचारों की समानता विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मृतक श्राद्ध विषयक विचारों में समानता

जिस प्रकार महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में श्राद्ध के विषय में यह लिखा कि—

"पितृ यज्ञ के दो भेद हैं एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण। श्राद्ध अर्थात् श्रत् सत्य का नाम है श्रत् सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा, श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धम्" जिस क्रिया से सत्यको ग्रहण किया जाय उसको श्रद्धा और जो श्रद्धा से कर्म किया जाये उस का नाम श्राद्ध है। और "तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितृन् तत् तर्पणम्" जिस २ कर्म से तृप्त अर्थात विद्यमान माता पिता आदि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जायें उसका नाम तर्पण है। परन्तु यह जीवितों के लिये है। मृतकों के लिये नहीं। (सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास)

मृतक श्राद्ध, पिण्डदानादि का खण्डन सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लासादि में है इसी प्रकार महात्मा गान्धी ने मृतक श्राद्ध को जङ्गली प्रथा बताते हुए उसे त्याज्य माना था।

२४ जून सन् १६२६ के "नवजीवन" में महात्मा जी ने लिखा:—

"मृत्यु होने पर जो भोज दिया जाता है उसे मैंने जङ्गली माना है। इस विषय पर एक सज्जन इस प्रकार अपने विचार प्रकट करते हैं:—

आप सनातनी हिन्दू होने का दावा करते हैं। आप गीता जी या रामायण जी के पुजारी हैं, फिर भी यह समझ में नही आता कि आप मृत्यु के बाद जो भोजनादि दिया जाता है उसे जङ्गली क्यों कहते हैं? शास्त्र तो कहते हैं कि मरने के बाद ब्राह्मणों को खिलाने से प्रेत (मृतात्मा) को सद्गति होती है उन्हें सान्त्वना

मिलती है। इस बात में हम किस को सच मानें ?

मैं कई बार लिख चुका हूँ कि जो संस्कृत में लिख डाला गया है, वह सब धर्म वाक्य ही नहीं माना जा सकता। उसी प्रकार धर्म शास्त्र के नाम पर चलने वाले मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में जो आज हम पढ़ते हैं वह सब मूलकर्ता की कृति है या तो वही अक्षरशः प्रमाण रूप है ऐसा नहीं मानना चाहिये। मैं स्वयं तो बिल्कुल नहीं मानता। एक सिद्धान्त सनातन है। इन सिद्धान्तों को मानने वाला सनातनी कहा जायेगा, परन्तु सिद्धान्तों के ऊपर से जो आचार जिस २ युग के लिये गढ़े गये हों, वे सब अन्य युग के लिये भी सच्चे होने चाहियें ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। स्थल, काल, संयोगों को लेकर आचार बदला करते हैं। प्राचीन काल में मरण के बाद दिये जाने वाले भोज में चाहे कुछ अर्थ भले ही हो, वर्तमान काल में हमारी बुद्धि उसे नहीं समझ सकती। जहां बुद्धि का प्रयोग किया जा सकता है वहां केवल श्रद्धा से हम नहीं चल सकते। जो बातें बुद्धि से परे हैं उन्हीं के लिये श्रद्धा का उपयोग है। इस विषय में तो हम बुद्धि से देख सकते हैं कि मरण के पीछे भोज देने में धर्म नहीं.........ऐसे भोजन से होने वाली हानियां हमें स्पष्ट दिखाई देती हैं। ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने संस्कृत श्लोक क्या काम दे सकते हैं ? मरण के पीछे भोज को बुद्धि भी स्वीकार नहीं करती, हृदय भी ग्रहण नहीं करता। ऐसे भोजों को जंगली मानने के लिये इससे सबल कारण मेरे पास नहीं है और किसी के पास से आशा भी नहीं रक्खी जा सकती; परन्तु विश्वास सब बुरा ही है, ऐसा मानने वाले वा उसे अच्छा मानने वाले दोनों भूल करते हैं। जो बातें बुद्धि पर नहीं चढ़ सकतीं उनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(नवजीवन २४ जून सन् १९२६)

महात्मा जी का यह लेख यद्यपि किसी २ स्थान पर शास्त्रों के गम्भीर अनुशीलन की न्यूनता के कारण कुछ अनिश्चयात्मकता को सूचित करता है तथापि सम्पूर्णतया यह महर्षि दयानंद के समान मृतक श्राद्ध की निस्सारता तथा व्यर्थता का प्रबल समर्थन करता है इसमें सन्देह नहीं। महर्षि दयानन्द का यह निश्चित विश्वास था कि वेदों में 'उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ यजु० १९।५७

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ यजु० १९।५८ इत्यादि मन्त्रों द्वारा जीवित पितरों को ही श्रद्धा-पूर्वक भोजनादि खिलाने का विधान है क्योंकि उनके लिये यह स्पष्ट लिखा है कि जिन पितरों को हमने निमन्त्रित किया है (उपहूताः) (ते आगमन्तु) वे आयें (ते इह श्रुवन्तु) वे यहां आ कर हमारी प्रार्थना को सुनें (अधिब्रुवन्तु) वे हमें भली भांति उपदेश दें और इस प्रकार (ते अस्मान् अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें।

इन वैदिक आदेशों के विरुद्ध मनुस्मृति आदि में जो कहीं-मृतक श्राद्ध समर्थक वचन पाये जाते हैं वे वेद और बुद्धि विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त और त्याज्य हैं।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के पितृयज्ञ प्रकरण में श्राद्ध और तर्पण के विषय में स्पष्ट लिख दिया कि "येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन् पितृंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम्। यत् तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेव तत् कर्म संघटते नैव मृतकेषु,कुतः, तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात् तदर्थं कृतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च तस्माद् विद्यमानाभिप्रायेणैतत् कर्मोपदिश्यते।"

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका शताब्दी संस्करण पृ० ५७४)

अर्थात् जिस कर्म से विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं सो तर्पण कहाता है तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है उसी को श्राद्ध जानना चाहिये। यह श्राद्ध तर्पणादि कर्म विद्यमान अर्थात् जो जीते हुये पितर हैं उन्हीं में घटता है मरे हुओं में नहीं क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है इसलिये उनकी सेवा नहीं हो सकती तथा जो उनके लिये जो कोई पदार्थ देना चाहे वह भी उनको नहीं मिल सकता। इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम तर्पण श्राद्ध वेदों में कहा है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द का लेख सप्रमाण युक्तियुक्त और निश्चयात्मक है जिसका समर्थन महात्मा गांधी के ऊपर उद्धृत लेख से भी होता है। शेष धार्मिक विषयों पर तुलनात्मक विचार आगे किया जायेगा।

अष्टम अध्याय

अहिंसा पर तुलनात्मक विचार

अब तक मैंने महर्षि दयानन्द के सामाजिक राजनैतिक तथा कुछ धार्मिक विचारों की तुलना महात्मा गांधी जी के इस विषय के विचारों से की है। अहिंसा विषय में इन दोनों महापुरुषों के विचारों में कहां तक समानता और कितनी विभिन्नता है इस विषय पर विचार करना इस तुलनात्मक अनुशीलन के समय आवश्यक है क्योंकि सभी जानते हैं कि महात्मा गांधी अहिंसा के प्रबल समर्थक तथा उपासक थे। सत्य और अहिंसा पर उनका सब से अधिक बल था और इन की उन्होंने अपने जीवन में विशेष रूप से साधना की थी।

महर्षि दयानन्द और अहिंसाः—

महर्षि दयानन्द भी पूर्णयोगी होने के कारण अहिंसा व्रतधारी थे इस में किसी को जरा भी संदेह नहीं हो सकता। अपने वैयक्तिक जीवन में उन्होंने अहिंसा के सार्वभौम महाव्रत का पालन किया था यहां तक कि अपने घातकों के प्रति भी उन्होंने दयालुता और उदारता पूर्ण व्यवहार दिखाया था। इस बात को पहले ही मैं अनेक उदाहरण देकर दिखा चुका हूं जिनके दुहराने की यहां आवश्यकता नहीं। भयङ्कर विप देकर प्राण हरण करने वाले जगन्नाथ नामक पाचक के प्रति जो उन्होंने दयालुता दिखाई, उसकी प्राणरक्षार्थ आर्थिक सहायता देकर जो उसे नैपाल भेज दिया यह सर्व विदित है। इस से बढ़ कर अहिंसा का क्रियात्मक उदाहरण क्या हो सकता है? अनूप शहर में पान में विप देने वाले व्यक्ति के पकड़े जाने पर "मैं संसार में किसी को कैद करवाने नहीं आया, किंतु सब को कैद से छुड़वाने आया हूँ।" ये उनके अमर वाक्य कैसे भुलाये जा सकते हैं? सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में योगदर्शन के सुप्रसिद्ध सूत्र 'तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" (योग २। ३०) की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने 'अहिंसा' का अर्थ "वैर त्याग" ऐसा किया है।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना प्रकरण में उन्होंने इस सूत्र पर व्यास मुनि जी का भाष्य उद्धृत करके जिसमें अहिंसा की व्याख्या—"तत्र सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः' इत्यादि रूप में की गई है महर्षि ने भाषानुवाद में लिखा है:—"अहिंसा अर्थात् सब प्रकार से सब काल में, सब प्राणियों के साथ, वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्तना।

मनुस्मृति २। १५६ के

"अहिंसयैव भूतानां, कार्यं श्रेयोनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा, प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥

इस श्लोक का अनुवाद करते हुए महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा:—

विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैर बुद्धि छोड़ के सब मनुष्यों को कल्याण के मार्ग का उपदेश करें और उपदेष्टा सदा मधुर सुशीलता युक्त वाणी बोलें। जो धर्म की उन्नति चाहे सदा सत्य का उपदेश करे।"

(सत्यार्थ प्रकाश ३ य समुल्लास पृ० ४५)

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।''

(यजु० ३६। १८)

इस सुप्रसिद्ध वेद मन्त्र की व्याख्या करके भावार्थ में ऋषि दयानन्द ने लिखा कि:—

'त एव धर्मात्मानो मनुष्या ये स्वात्मवत् सर्वान् प्राणिनो मन्येरन् कञ्चिचदपि न द्विषेयुर्मित्रवत् सर्वान् सदोपकुर्युरिति अर्थात् वे ही धर्मात्मा जन हैं जो अपनी आत्मा के सदृश सम्पूर्ण प्राणियों को मानें, किसी से भी द्वेष न करें और मित्र के सदृश सदा उपकार करें।

इस से बढ़ कर अहिंसा का आदर्श क्या हो सकता है? किंतु इस प्रकार जहां महर्षि दयानन्द ने अहिंसा धर्म के पालन का उपदेश दिया वहां क्षात्र धर्म का प्रतिपादन वेदादि सत्य शास्त्रों के आधार पर करते हुए उन्होंने दुष्टों के नाश को क्षत्रियों का आवश्यक कर्त्तव्य बताया।

यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधी-
रर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ ऋ० १। ८०। ७

का अर्थ करते हुये कि हे सभाध्यक्ष राजन् तुम मायी—छलादि दोषयुक्त मृग—पर-स्वापहर्ता अर्थात् दूसरे के पदार्थों का अपहरण करने वालों को अपनी बुद्धि से नष्ट करते हुये स्वराज्य की रक्षा करते हो। महर्षि ने भावार्थ में लिखा:—

"ये प्रजापालनाय सूर्यवत् स्वबलन्यायविद्याः प्रकाश्य कपटिनो जनान् निबध्नन्ति ते राज्यं वर्धयितुं करान् प्राप्तुं च शक्नुवन्ति।"

अर्थात् जो प्रजा की रक्षा के लिये सूर्य की तरह अपने बल, न्याय और विद्या का प्रकाश करके कपटियों को दण्ड देते हैं वे राज्य को बढ़ाने और करों को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।"

इन्द्रो वृत्रस्य तविषी निरहन्त्सहसा सहः। महत्तदस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वां असृजदर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ ऋ० १।८०।१० की व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने लिखा कि:—

"विद्युदिव पराक्रमी सभाध्यक्षः मेघस्येव शत्रोः बलं नितरां हन्यात्॥ अर्थात् विद्युत् की तरह पराक्रमी सभाध्यक्ष मेघ के समान शत्रु का निरन्तर हनन करता है।

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्॥ १।४।१०।८ की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने आर्याभिविनय में लिखा है कि:—

"जो नास्तिक, डाकू, चोर, विश्वासघाती, मूर्ख, विषयलम्पट, हिंसादि, दोषयुक्त, उत्तम कर्म में विघ्न करने वाले स्वार्थी, स्वार्थ साधन में तत्पर, वेद विद्या विरोधी, अनार्य मनुष्य सर्वोपकार यज्ञ के विध्वंसक हैं इन सब दुष्टों को आप मूल सहित नष्ट कीजिये और (शासदव्रतान्) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासादि धर्मानुष्ठान व्रत रहित, वेद मार्गोच्छेदक अनाचारियों को यथायोग्य शासन करो (शीघ्र उन पर दण्ड निपात

करो) जिससे वे भी शिक्षा युक्त हो के शिष्ट हों अथवा उनका प्राणान्त हो जाए किंवा हमारे ही वश में रहें।" (आर्याभिविनय रामलाल कपूर ट्रस्ट ४ थे संस्करण पृ० ३२)

महर्षि दयानन्द के वेद व्याख्यात्मक इस लेख से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार के दुष्टों के लिये हिंसा का प्रयोग वेद तथा महर्षि सम्मत है। यहां भी उद्देश्य यथा संभव उन दुष्टों को शिष्ट बनाना ही माना गया है, यदि वे ऐसे नीच हों कि अन्य किसी प्रकार से मानें ही नहीं तथा अपने अनाचार को न छोड़ें तभी उनके प्राणान्त कर देने का आदेश है जिस से उन के कारण समाज वा राष्ट्र को हानि न पहुंचे।

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीलू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः।" ऋ० १।३।१८।२

इस वेद मन्त्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने इस उपर्युक्त भाव को और अधिक स्पष्ट किया है। 'आर्याभिविनय' पृ० ५८ में महर्षि लिखते हैं:—

"परमेश्वरो हि सर्वजीवेभ्य आशीर्ददाति–परमेश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि हे जीवो ! तुम्हारे आयुध अर्थात् शतघ्नी (तोप) भुशुण्डी (बन्दूक) धनुष बाण, तलवार, बरछी आदि शस्त्र स्थिर और दृढ़ हों। किस प्रयोजन के लिये ? (पराणुदे) तुम्हारे शत्रुओं के पराजय के लिए, तुम्हारे दुष्ट शत्रु लोग कभी दुःख न दे सकें। (उत प्रतिष्कभे) शत्रुओं के वेग को थामने के लिये। (युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी) तुम्हारी बलरूप उत्तम सेना सब संसार में प्रशंसित हो जिससे तुम से लड़ने को शत्रु का कोई संकल्प भी न हो। परन्तु (मा मर्त्यस्य मायिनः) जो अन्यायकारी मनुष्य है उसको हम आशीर्वाद नहीं देते। दुष्ट, पापी ईश्वर भक्ति

रहित मनुष्य का बल और राजैश्वर्यादि कभी मत बढ़े । उसका पराजय ही सदा हो। हे बन्धुवर्गो ! आओ अपने सब मिल के सर्व दुःखों का विनाश और विजय के लिये ईश्वर को प्रसन्न करें जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे जिससे अपने शत्रु कभी न बढ़ें ।"

(आर्याभिविनय पृ० २६)

वेद और महर्षि दयानन्द के अहिंसादि विषयक अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त उद्धरण पर्याप्त हैं। ब्राह्मणों और सन्यासियों के लिये महर्षि दयानन्द पूर्ण अहिंसा के आदर्श को स्वीकार करते थे। अन्य सर्वसाधारण के लिये नहीं। विशेषतः क्षत्रियों के लिये (यद्यपि उनके लिये भी 'असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु—अनमित्रं नः पश्चादनमित्रं न उत्तरात्" इन्द्रानमित्रं नो ऽधरादनमित्रं पुरस्कृधि" इत्यादि वैदिक आदर्शों के अनुसार किसी से द्वेष भाव रखना सर्वथा निषिद्ध है।) तथापि दुष्टों के नाश का कार्य भी उन्हें समाज और राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर द्वेषरहित कर्तव्य बुद्धि से ही करने का आदेश है जो अत्यन्त उच्च और महत्त्वपूर्ण भाव है।

पूज्य महात्मा गांधी जी के अहिंसा विषयक विचार—

पूज्य महात्मा गांधी जी के अहिंसा विषयक विचारों को यद्यपि जनता साधारणतया जानती है तथापि उनका शुद्ध संकलन कुछ कठिन है। सबसे पहले मैं उनके यरवडा जेल से जुलाई सन् १६३० में साबरमती आश्रम वासियों के नाम लिखे पत्र से उद्धरण दूंगा जो "मङ्गल प्रभात" के नाम से प्रकाशित संग्रह से लिया गया है। अहिंसा की व्याख्या करते हुए पूज्य महात्मा गांधी जी ने इस पत्र में लिखा था कि:—

"यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जिसे आज हम देखते हैं। किसी को न मारना तो है ही। बुरे विचार मात्र हिंसा है। उतावली (जल्दबाजी) हिंसा है, मिथ्या भाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है, जगत् के लिये जो वस्तु आवश्यक है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। लेकिन हम जो खाते हैं वह जगत् के लिये आवश्यक है, जहां खड़े हैं वहां सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरों तले कुचले जाते हैं यह जगह उनकी है। तो फिर क्या आत्म हत्या कर लें ? तो भी निस्तारा नहीं। विचार में देह का संसर्ग छोड़ दें तो अन्त में देह हमें छोड़ देगी। यह मोहरहित स्वरूप सत्य नारायण है। इतना सब समझ लें कि अहिंसा बिना सत्य की खोज असम्भव है। अहिंसा और सत्य सिक्के के दोनों बाजुओं या चिकनी चिकती के दोनों पहलुओं की भांति बिल्कुल एक समान हैं, उसमें उलटे सीधे की पहचान कैसे हो ? तथापि अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन हमारे हाथ की बात है, इससे अहिंसा परम धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ।.... हमारे मार्ग में चाहे जितने संकट आ जाएं, बाह्य दृष्टि से हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मन्त्र जपना चाहिये-सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ूंगा। जिस सत्य रूप परमेश्वर के नाम से यह प्रतिज्ञा की है वह उसके पालन करने का बल दे।"

(देखो-मङ्गल प्रभात रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर द्वारा प्रकाशित पृ० १०—१२)

श्री किशोरीलाल मशरूवाला द्वारा संकलित और महात्मा गांधी जी द्वारा प्रमाणित 'गांधी विचार दोहन' नामक सस्ता

साहित्य मण्डल नई देहली द्वारा प्रकाशित पुस्तक में 'अहिंसा विषयक म० गांधी जी के विचार संगृहीत किये गये हैं जिनमें से पूर्वोक्त उद्धृत वाक्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित उल्लेखनीय है:-

"प्रेम का शुद्ध व्यापक स्वरूप अहिंसा है। पर जिस प्रेम में राग या मोह की गन्ध आती हो वह अहिंसा नहीं हो सकती। (पृ० ४) दूसरे के शरीर या मन को दुःख या पीड़ा न पहुँचाना इतना ही अहिंसा धर्म नहीं है, हां साधारणतः इसे अहिंसा धर्म का बाह्य लक्ष्य कह सकते हैं। दूसरों के शरीर या मन को स्थूल दृष्टि से दुःख या क्लेश पहुँचता जान पड़ता हो तो भी उसमें शुद्ध अहिंसा धर्म का पालन होता हो यह सम्भव है।... अहिंसा का भाव दिखाई देने वाले परिणाम में ही नहीं है बल्कि अन्त-करण की राग द्वेष रहित स्थिति में है।" (गांधी विचार दोहन पृ० ४) इसके साथ महर्षि दयानन्द की अहिंसा के वैर-त्याग इस अर्थ की तुलना विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

अहिंसा में तीव्र कार्य साधक शक्ति भरी हुई है। इस में जो अमोघ शक्ति है उसकी अभी पूरी खोज नहीं हुई है। "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संन्निधौ वैरत्यागः" अथवा अहिंसा की सिद्धि होने पर सारे वैर द्वेष शांत हो जाते हैं, यह सूत्र शास्त्रों का प्रलाप नहीं है, बल्कि ऋषि का अनुभव वाक्य है। हिंसा के मार्गों के शोधन और संगठन करने का मनुष्य ने जितना दीर्घ उद्योग किया है उतना यदि वह अहिंसा की शक्ति के शोधन और संघटन के लिये करे तो मनुष्य जाति के दुःखों के निवारणार्थ यह एक अनमोल, अचूक और परिणाम में उभय पक्ष का कल्याण करने वाला साधन सिद्ध होगा।

(गांधी विचार-दोहन पृ० ५)

अहिंसा के अत्यन्त प्रबल समर्थक होते हुए भी पूज्य महात्मा गांधी जी सर्व साधारण के लिये उस के अपवादों को स्वीकार करते और भीरुता तथा हिंसा में से हिंसा के आश्रय की सलाह देते थे।

यङ्ग इन्डिया के ११ अगस्त सन् १६२० के अङ्क में महात्मा गांधी जी ने स्पष्ट लिखा था किः—

"I do believe that where there is only a choice between cowardice and violence, I would advise violence". (Young India Aug 11, 1920)

अर्थात् जहां भीरुता और हिंसा में से किसी एक के चुनने का प्रश्न है, मैं हिंसा की ही सलाह दूंगा।

इस का उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा कि जब मेरे ज्येष्ठ पुत्र ने मुझ से प्रश्न किया कि जब सन् १६०८ में मुझ पर एक पठान ने घातक आक्रमण किया तब यदि मैं उपस्थित होता तो मुझे क्या करना चाहिये था भाग जाना या हिंसा का प्रयोग करना ? तो मैंने उसे कहा कि हिंसा का प्रयोग करके भी रक्षा करना उस का कर्तव्य था। यही कारण है कि मैंने बोर युद्ध, तथा पिछले महायुद्ध में भाग लिया था। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने यहां तक लिखा किः —

"I would rather have India resort to arms in order to defend her honour, than that she should in a cowardly manner become or remain a helpless witness to her own dishonour" (Young India 11—8—1920)

अर्थात् अपेक्षा इसके कि भारत भीरुता से अपने अपमान का एक असहाय द्रष्टा बना रहे मैं इस बात को पसन्द करूंगा

कि वह अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये शस्त्र ग्रहण करे।

(Teachings of Mahatma Gandhi Edited by Jag Parvesh Chandra P. 410) Gandhi's Wisdom Box"

इस विषय में महात्मा गांधी जी से किए प्रश्न और उनके उत्तर विशेष उल्लेखनीय हैं। पू० महात्मा जी से किसी ने प्रश्न किया:—

Suppose some one came and hurled insult at you, should you allow yourself to be thus humiliated ?"(Gandhi's Wisdom Box P 51)

अर्थात् कल्पना कीजिये कि कोई आया और उसने आपका खुला अपमान किया तो क्या आप अपना इस तरह अपमान होने देंगे ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महात्मा जी ने लिखा:—

"If you feel humiliated, you will be justified in slapping the bully in the face or taking what ever action you might deem necessary to vindicate your self repect. The use of force, under the circumstances, would be the natural consequence, if you are not a coward. Your non-violent behaviour would then either make the bully feel ashamed of himself and prevent the insult, or make you immune against it so that the insult would remain only in the bully's mouth and not touch you at all."

(Gandhi's Wisdom Box P. 51)

अर्थात् यदि तुम अपमानित अनुभव करो तो तुम्हारे लिये अपमान कर्ता के मुख पर चपत मारना अथवा अपने आत्म-सन्मान की रक्षा के लिए अन्य कोई भी उचित कार्य करना सर्वथा न्याय संगत होगा। यदि तुम भीरु नहीं हो तो इन परि-स्थितियों में शक्ति का प्रयोग स्वाभाविक परिणाम होगा। तुम्हारा अहिंसात्मक व्यवहार या तो आक्रान्ता को लज्जित करके अपमान को रोक देगा अथवा तुम्हें इस के विरुद्ध सुरक्षित कर देगा जिस से तुम उस अपमान से जरा भी प्रभावित न हो।

एक दूसरा प्रश्न जो महात्मा गांधी जी से किया गया यह था:—

कल्पना कीजिये एक पागल है जो हत्या पर तुला हुआ है और आप उस समय वहां उपस्थित हो जाते हैं। एक उत्तेजित भीड़ बहुत अधिक क्षुब्ध अवस्था में है और आप अपने को विवश वा असहाय अनुभव करते हैं ऐसी अवस्था में क्या आप उस पागल को रोकने के लिए शारीरिक बल और उस भीड़ को तितर-बितर करने के लिये अश्रु गैस आदि के प्रयोग का अनु-मोदन करेंगे?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुये महात्मा गांधी जी ने लिखा कि:—

मैं इस प्रकार के बल प्रयोग के लिये सदा क्षमा कर दूंगा किन्तु मैं यह न कहूंगा कि अहिंसात्मक दृष्टिकोण से यह ठीक है। मैं कहूँगा कि आप के अन्दर अहिंसा की उतनी मात्रा न थी जो आप को विशुद्ध अहिंसात्मक व्यवहार में विश्वास उत्पन्न करावे। यदि आप में पूर्ण अहिंसा होती तो आप की केवल उपस्थिति ही उस पागल को शान्त करने के लिये पर्याप्त होती।

(Your simple presence would be sufficient to pacify the lunatic)

तुम्हारे अन्दर बुरा कार्य करने वाले के प्रति भी प्रेम और दया का प्रवाह होना चाहिये। जब वह विद्यमान होगा तो वह अपने को किसी क्रिया द्वारा प्रकट करेगा। अश्रु गैस आदि के प्रयोग के सम्बन्ध में महात्मा जी ने लिखा:—

"The use of tear gas is not justified in terms of the non-violent ideal. But I would defend its use against the whole world, if I found myself in a corner when I could not save a helpless girl from violation or prevent an infuriated crowd from indulging in madness, except by its use. God would not excuse me, if I were to plead before Him that I could not prevent these things from happening, because I was held back by my creed of non-violence, (Gandhi's Wisdom Box P. 52)

अर्थात अहिंसा के आदर्श की दृष्टि से अश्रु गैस का प्रयोग भी उचित नहीं है। किन्तु मैं सारे संसार के विरुद्ध भी इसके प्रयोग का समर्थन करूंगा यदि मैं अपने को किसी ऐसे कोने में पाऊं जहां मैं इसके प्रयोग के बिना किसी असहाय कन्या की रक्षा करने और उत्तेजित भीड़ को पागलपन के कार्य से रोकने में अपने को असमर्थ पाऊं। परमेश्वर मुझे क्षमा नहीं करेगा यदि मैं उसके सामने यह निवेदन करूं कि मैं इन घटनाओं को अपने अहिंसा में विश्वास के कारण नहीं रोक सका।

ये शब्द अत्यन्त स्पष्ट हैं और इन पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। पू० महात्मा जी का आत्मिक शक्ति में विश्वास अत्यन्त दृढ़ था इस लिये ये वाक्य लिख कर भी उन्होंने लिखा

कि मेरे लिये यह कहना अधिक अच्छा है कि मेरे अन्दर पर्याप्त अहिंसा नहीं अपेक्षा इसके कि मैं एक नित्य सिद्धांत में अपवाद स्वीकार करूं। मेरा अपवाद स्वीकार करने से इन्कार, मुझे अहिंसा की विद्या में पूर्णता प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित करता है। मैं शब्दशः पतञ्जलि मुनि के सूत्र में विश्वास करता हूं कि अहिंसा के सन्मुख हिंसा नष्ट हो जाती है।"

वस्तुतः उच्च कोटि के ब्राह्मणों, साधु सन्तों और महात्माओं में ऐसी अद्भुत आत्मिक शक्ति होती है और वे अहिंसा धर्म का पूर्णतया पालन करते हैं। संन्यासी के धर्मों का प्रतिपादन करते हुये मनुस्मृति के

"क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत।

(मनुस्मृति ६।४८)

इस श्लोक का अनुवाद महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश के पञ्चम समुल्लास में इस प्रकार दिया है:—

'जहां कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर क्रोध न करे किन्तु सदा उसके कल्यांणार्थ उपदेश ही करे।" इत्यादि

इस प्रसङ्ग में मैं एक अत्यावश्यक और मुख्य प्रश्न प्रश्न-कर्ता और महात्मा गांधी जी के अपने ही शब्दों में उद्धत किये विना नहीं रह सकता जो इस प्रकार है।

किसी सज्जन ने महात्मा जी से प्रश्न किया:—

Can a state carry on strictly according to the principles of non-violence ?

अर्थात् क्या कोई राष्ट्र पूर्णतया अहिंसा के सिद्धान्तानुसार चल सकता है ?

इसका उत्तर पूज्य महात्मा गांधी जी ने निम्न शब्दों में दिया।

Government can not succeed, in becoming entirely non-violent, because it represents all the people I do not to-day conceive of such a golden age. But I do believe in the possibility of pre-dominantly non-violent society. And I am working for it. A Government representing such society will use the least amount of force. But no government worth its name can suffer anarchy to prevail. Hence I have said that even under a Government based primarily on non-violence, a small police force will be necessary," (Gandhi's Wisdom Box P. 52-53).

अर्थात् एक सरकार सर्वथा अहिंसात्मक होने में नहीं सफल हो सकती क्योंकि यह सब लोगों की प्रतिनिधि है। मैं आज ऐसे स्वर्णयुग की कल्पना नहीं करता किन्तु मेरा एक मुख्यतया अहिंसात्मक समाज की संभावना में विश्वास है और मैं उसके लिये प्रयत्नशील हूं। इस प्रकार के समाज की प्रतिनिधि भूत सरकार शक्ति वा हिंसा का कम से कम प्रयोग करेगी। परन्तु कोई भी सरकार अराजकता की अनुमति नहीं दे सकती। इस लिये मैंने कहा है कि मुख्यतया अहिंसा पर आश्रित सरकार में भी थोड़ी सी पोलीस शक्ति आवश्यक होगी।

इन वाक्यों में क्षात्र शक्ति के उपयोग की आवश्यकता को पूज्य महात्मा जी ने स्वीकार किया ही है। उनके जीवनकाल में और जहां तक हमें ज्ञात हुआ है उनका आशीर्वाद प्राप्त

करके हमारी वर्तमान राष्ट्रीय सरकार ने काश्मीर में अपनी सेना भेजी थी जिस कार्य की सभी ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। इस प्रकार महर्षि दयानन्द द्वारा वेदों के आधार पर प्रतिपादित अहिंसा विषयक सिद्धांत ही समाज और राष्ट्रहित की दृष्टि से सर्वथा उपयोगी और व्यवहार्य हैं। महात्मा गांधी जी पूर्ण अहिंसा के उच्च आदर्श के पालन करने कराने का प्रयत्न करते रहे पर उन्हें भी विशेष अवस्था में हिंसा के प्रयोग की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी। अतः दोनो महात्माओं के विचारों में कोई विशेष अन्तर नहीं।

नवम अध्याय

महर्षि के सर्वमतसमता विषयक विचार

महर्षि दयानन्द के धर्म विषयक विचार 'सत्यार्थप्रकाश' में स्पष्टतया वर्णित हैं अतः उनके विषय में विस्तार से लिखने की विशेष आवश्यक्ता नहीं। महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्य लिखते हुये निम्न स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य वाक्यों द्वारा सागर को गागर में भर दिया है:—

'जो २ बात सबके सामने माननीय है उसको मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं और जो मत मतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न (पसन्द) नहीं करता, क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसाकर परस्पर का शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर सब को ऐक्य मत में करा द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके सबसे सबको सुख लाभ पहुँचाने के

लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्त जनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।"

(सत्यार्थप्रकाश २८ वीं बार पृ० ३८६)

सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास में यह प्रश्न उठवाकर कि "आप सब का खंडन ही करते आते हो परन्तु अपने-अपने धर्म में सब अच्छे हैं। खंडन किसी का न करना चाहिये। जब करते हो तो आप इनसे विशेष क्या बतलाते हो?" महर्षि ने उत्तर दिया है कि धर्म सबका एक होता है वा अनेक? जो कहो अनेक होते हैं तो एक दूसरे से विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध? जो कहो विरुद्ध होते हैं तो एक के बिना दूसरा धर्म नहीं हो सकता और जो कहो अविरुद्ध है तो पृथक् २ होना व्यर्थ है। इसलिये धर्म और अधर्म एक ही हैं अनेक नहीं।" 'सत्यार्थ-प्रकाश ११ वां समुल्लास पृ० २४५) इसके पश्चात् एक जिज्ञासु राजा को विविध मतवादियों के पास भेजा जाता है जिसे सब मतवादी यही कहते हैं कि हमारा ही मत सच्चा है अन्य सब झूठ है। अन्त में वह एक आप्त विद्वान् की शरण में आता है जिसको वे यह उपदेश देते हैं कि "ये सब मत अविद्याजन्य विद्या विरोधी हैं। मूर्ख, पामर और जङ्गली मनुष्य को बहकाकर अपने जाल में फंसा के अपने प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वे बिचारे अपने मनुष्य जन्म के फल से रहित होकर अपना मनुष्य जन्म व्यर्थ गमाते हैं। देखो जिस बात में ये सहस्र मत एक हों वह वेदमत ग्राह्य है—और जिसमें परस्पर विरोध हो वह कल्पित, झूठा, अधर्म, अग्राह्य है। (जिज्ञासु) इसकी परीक्षा कैसे हो? (आप्त) तू जाकर इन २ बातों को पूछ। सबकी एक सम्मति

हो जायेगी। तब वह उन सहस्रों की मण्डली के बीच में खड़ा होकर बोला कि सुनो सब लोगो ! सत्य भाषण में धर्म है वा मिथ्या में ? सब एक स्वर होकर बोले कि सत्य भाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्सङ्ग पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में धर्म और अविद्या ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग आलस्य, असत्य व्यवहार छल कपट, हिंसा, पर-हानि करने आदि कर्मों में ? सब ने एक मत हो के कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म। तब जिज्ञासु ने सबसे कहा कि तुम इसी प्रकार सब जने एक मत हो सत्य धर्म की उन्नति और मिथ्या मार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो। वे सब बोले जो हम ऐसा करें तो हमको कौन पूछे ? हमारे चेले हमारी आज्ञा में न रहें, जीविका नष्ट हो जाय, फिर जो हम आनन्द कर रहे हैं सो सब हाथ से जाय। इसलिये हम जानते हैं तो भी अपने २ मत का उपदेश और आग्रह करते ही जाते हैं क्योंकि 'रोटी खाइये शक्कर से, दुनिया ठगिए मक्कर से।' ऐसी बात है। देखो संसार में सूधे सच्चे मनुष्य को कोई नहीं देता और न पूछता। जो कोई ढोंगबाजी और धूर्त्तता करता है वही पदार्थ पाता है। इत्यादि

(सत्यार्थप्रकाश पृ० २४७)

इन उपर्युक्त तथा इसके आगे के शब्दों में महर्षि दयानन्दजी ने साम्प्रदायिक लोगों की मनोवृत्ति का नग्न चित्र खेंचकर उससे दूर रहने का सबको उपदेश दिया है। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के पिछले चार समुल्लासों में इन मतों को तर्क की कसौटी पर कसकर उनके दोषों का भी दिग्दर्शन अत्यन्त शुद्ध भाव से कराया है जैसे कि अपने महान् ग्रन्थ की प्रारम्भिक भूमिका में ही उन्होंने लिख दिया है कि "मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य को जानने वाला है

तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जान कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें, क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।" (सत्यार्थप्रकाश भूमिका पृ० २) ऐसा ही पिछले चार समुल्लासों की अनुभूमिकाओं में लिखा है।

इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि महर्षि के विचार में इन विविध मत मतान्तरों में कोई सत्य का अंश न था। इस्लाम विषयक चतुर्दश समुल्लास के अन्त में महर्षि ने एक कट्टर मुसलमान के मुख से प्रश्न करवाया है कि "देखो हमारा मत कैसा अच्छा है कि जिसमें सब प्रकार का सुख और अंत में मुक्ति होती है। इसका महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदत्त उत्तर स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है जो यह है कि:—

'ऐसे ही अपने मत वाले सब कहते हैं कि हमारा ही मत अच्छा है बाकी सब बुरे, बिना हमारे मत के दूसरे मत में मुक्ति नहीं हो सकती। अब हम तुम्हारी बात को मानें वा उनकी ? **हम तो यही मानते हैं कि सत्य भाषण, अहिंसा, दया आदि शुभ गुण सब मतों में अच्छे हैं;** बाकी वाद विवाद, ईर्ष्या द्वेष, मिथ्याभाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं। यदि तुम को सत्य मत ग्रहणकी इच्छा हो तो वैदिक मत को ग्रहण करो।'

(सत्यार्थप्रकाश पृ० ३८१)

जिस एक धर्म और अधर्म का महर्षि ने एकादश समुल्लास

के ऊपर उद्धृत वाक्य में उल्लेख किया है उसका लक्षण उन्होंने निम्न शब्दों में दिया है:—

'जो पक्षपात रहित न्यायाचरण सत्यभाषणादि युक्त वेदों से अविरुद्ध है उसको धर्म और जो पक्षपात सहित अन्यायचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञा भङ्ग वेद विरुद्ध है उसको अधर्म मानता हूँ।' इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने इस अत्यावश्यक विषय पर विचारों को संक्षेप से उन्हीं के शब्दों में दिखाने के पश्चात् मैं महात्मागांधीजी के विचारों को श्री किशोरीलाल मशरूवाला द्वारा संकलित "गांधी विचार दोहन" से उद्धृत करता हूँ।

महात्मा गांधी के सर्वधर्मसमता विषयक विचार

१—प्रत्येक युग और प्रत्येक राष्ट्र में सत्य के गहरे खोजी और जनकल्याण के लिये अत्यन्त लगन रखने वाले विभूतिमान् पुरुष और सन्त पैदा होते हैं। उस युग के और उस जन समाज के दूसरे लोगों की अपेक्षा वे सत्य का कुछ अधिक साक्षात्कार किये होते हैं। इनका कुछ साक्षात्कार सनातन सिद्धान्तों का होता है और कुछ अपने जमाने की परिस्थिति में उपजा हुआ होता है। इसके सिवा ऐसा होता है कि कितने ही सिद्धांत अपने सनातन स्वरूप में उनकी समझ में आने पर भी, उन्हें कार्यरूप देने को उद्यत होने पर उस युग और देश की परिस्थिति में उसका मेल ही रहे ऐसी मर्यादा के अन्दर ही उसकी प्रणाली उन्हें सूझती है। इन सब में से ही जगत् के भिन्न-भिन्न धर्मों की उत्पत्ति हुई है।

२—इस रीति से विचार करने वाला किसी धर्म में सत्य का सर्वथा अभाव नहीं देखता, वैसे ही किसी धर्म को सम्पूर्ण सत्य के रूप में नहीं स्वीकार करता। वह धर्मों में परिवर्तन और विकास की गुंजाइश देखेगा। उसे दिखाई देगा कि विवेक

पूर्वक अनुसरण करने पर प्रत्येक धर्म उस प्रजा का कल्याण साधन कर सकता है और जिसमें व्याकुलता है उसे सत्य की झांकी कराने तथा शान्ति और समाधान देने में समर्थ है।

३—ऐसा मनुष्य यह अभिमान नहीं रखता कि उसी का धर्म श्रेष्ठ है और मनुष्य मात्र को अपने उद्धार के लिये उसी को स्वीकार करना चाहिये। वह उसे छोड़ेगा भी नहीं और उसके दोषों की ओर से आंखें भी नहीं मूंदेगा। वह जैसा आदर भाव अपने धर्म के प्रति रक्खेगा वैसा ही दूसरे धर्मों और उनके अनुयायियों के प्रति भी रक्खेगा और चाहेगा यही कि प्रत्येक मनुष्य अपने २ धर्मों के ही उत्तमोत्तम सिद्धान्तों का यथोचित रीति से पालन करे।

४. निन्दक बुद्धि, पर धर्म में छिद्र देखेगी। सत्यशोधक को प्रत्येक धर्म में सत्य का जो अङ्ग विकसित जान पड़ेगा उस का अंश ग्रहण कर लेगा। इससे सत्य शोधक पुरुष के बारे में प्रत्येक धर्म के अनुयायी को ऐसा जान पड़ेगा मानो वह उसी के धर्म का सच्चा अनुयायी है। इस प्रकार सत्य शोधक अपने जन्म धर्म का त्याग किए विना सब धर्मों का अनुयायी सा प्रतीत होता है!

(गांधी विचार दोहन पृ० १६-२०)

'मङ्गल प्रभात' के नाम से जो महात्मा गांधी जी के यरवदा जेल से सन् १६३० में सत्याग्रहाश्रम वासियों के नाम लिखे पत्र रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से. प्रकाशित हुए हैं उन में 'सर्व-धर्म समभाव' शीर्षक से लिखा है कि "अहिंसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसा की दृष्टि से पर्याप्त नहीं हैं। दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखने के मूल में अपने धर्म की अपूर्णता का स्वीकार भी आ ही जाता है और सत्य की आराधना अहिंसा की कसौटी यही सिखाती

है।.......हम पूर्ण सत्य को नहीं पहचानते, इसी लिए उस का आग्रह करते हैं, इस में पुरुषार्थ की गुंजाइश है। इस में अपनी अपूर्णता को मान लेना आ गया। हम अपूर्ण, तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण, स्वतन्त्र धर्म सम्पूर्ण है। उसे हमने देखा नहीं. जिस तरह ईश्वर को हमने नहीं देखा। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उस में सदा परिवर्तन हुआ करता है, होता रहेगा। ऐसा होने से ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं सत्य की ओर—ईश्वर की ओर दिनप्रित दिन आगे बढ़ सकते हैं और यदि मनुष्यकल्पित सभी धर्मों को अपूर्ण मान लें तो फिर किसी को ऊंच नीच मानने की बात नहीं रह जाती। सभी सच्चे हैं पर सभी अपूर्ण हैं इस लिये दोष पात्र हैं। समभाव होने पर भी हम उस में दोष देख सकते हैं। हमें अपने में भी दोष देखने चाहियें। उस दोष के कारण उस का त्याग न करें। यों समभाव रखें तो दूसरे धर्मों में जो कुछ ग्राह्य जान पड़े उसे अपने धर्म में स्थान देते संकोच नहीं, इतना ही नहीं, वैसा करना धर्म हो जाय।

"सभी धर्म ईश्वर प्रदत्त हैं, परन्तु वे मनुष्य कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वर दत्त धर्म अगम्य है। मनुष्य उसे अपनी भाषा में प्रकट करता है। उस का अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किस का अर्थ सच्चा माना जाय? सब अपनी २ दृष्टि से जब तक वह दृष्टि बनी रहे, तब तक सच्चे हैं। परन्तु सभी का झूठा होना भी असम्भव नहीं है। इसी लिये हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिये। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं उत्पन्न होती, परन्तु स्वधर्म विषयक प्रेम, अन्ध प्रेम न रह कर ज्ञानमय हो जाता है। इस से अधिक सात्विक तथा निर्मल बनता

है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं। धर्मान्धता और दिव्य दर्शन में उत्तर दक्षिण जितना अन्तर है। धर्म ज्ञान होने पर अन्तराय मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न होता है। इस समभाव का विकास करके हम अपने धर्म को अधिक पहचान सकते हैं।

यहां धर्म अधर्म का भेद नहीं मिटता। यहां तो उन धर्मों की बात है जिन्हें हम निर्धारित धर्म के रूप में जानते हैं। इन सभी धर्मों के मूल सिद्धान्त एक ही हैं।. सभी में सन्त स्त्री पुरुष हो गये हैं, आज भी मौजूद हैं। इस लिये धर्मों के प्रति समभाव में और धर्मियों—मनुष्यों के प्रति वाले समभाव में कुछ अन्तर है। मनुष्य मात्र—दुष्ट और श्रेष्ठ के प्रति, धर्मी और अधर्मी के प्रति समभाव की आवश्यकता है परन्तु अधर्म के प्रति कदापि नहीं। तब प्रश्न यह होता है, कि बहुत से धर्मों की क्या आवश्यकता है? यह हम जानते हैं कि धर्म अनेक हैं। आत्मा एक है पर मनुष्य देह अगणित हैं। देह की असंख्यता दूर करने से दूर नहीं हो सकती फिर भी आत्मा की एकता को हम जान सकते हैं। धर्म का मूल एक है जैसे वृक्ष का, उस में पत्ते अगणित हैं।"

(मङ्गल प्रभात पृ० ६०—६६)

'हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है।' यह वाक्य जो ऊपर के पत्र में उद्धृत है अस्पष्ट है इस के विषय में रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से महात्मा गांधी जी से प्रश्न पूछा गया जिस के उत्तर में उनकी ओर से १५-६-३८ को निम्न उत्तर दिया गया:—

'आप का पूज्य गांधी जी के नाम का ता० २०-८-३८ का पत्र मिला। पू० गांधी जी के कहने का मतलब यह है कि सत्य

अहिंसा ब्रह्मचर्य आदि धर्म अचल और सनातन हैं। पर भिन्न २ मजहब और गुणों में उन का जो व्यावहारिक स्वरूप धर्मके नाम पर चलता है उसी को हमेशा के लिये सच्चा और पूर्ण न मानना चाहिये, इस में उत्तरोत्तर शुद्धि और विकास के लिये गुञ्जाइश है। उदाहरणार्थ शौच (शुद्धाचार) के नाम पर अस्पृश्यता चली हो और वह धर्म रूप मानी गई हो तो उस में संशोधन होना आवश्यक होता है। आशा है, इस स्पष्टीकरण से समाधान होगा।

आप का किशोरी लाल
मंगल प्रभात ६२।६३

इन लम्बे उद्धरणों और स्पष्टीकरण को मैंने इस लिये जनता के सामने रखा है जिस से इस विषय में महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी जी के विचारों की तुलना में सुविधा हो। यह तो स्पष्ट है कि इस विषय में दोनो महापुरुषों के विचार में बहुत अन्तर है। यहां तक तो महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी के विचार में समानता है कि मतभेद के कारण किसी भी व्यक्ति से द्वेष न किया जाय किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि धर्म और मत मतान्तर समान माने जाएं।

धर्म तो एक ही हो सकता है जिसका लक्षण महर्षि दयानन्द के अनुसार यह है कि जो पक्षपात रहित न्यायाचरण, सत्य भाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है। वह धर्म सार्वभौम है। उसमें अन्य मत मतांतरों की (जो पीछे चले)

अच्छी २ बातों का समावेश है। महर्षि दयानन्द पूर्णयोगी और वेदों के पूर्ण पण्डित होने के कारण निश्चित रूप से धर्म के यथार्थ स्वरूप को जान सकते थे, किन्तु वैयक्तिक जीवन की दृष्टि से अत्यन्त उन्नत होते हुये भी योग और वेद ज्ञान में न्यूनता के कारण (जिसको महात्मा जी स्वयं स्वीकार करते

थे) महात्मा गांधी धर्म को यथार्थ रूप से जानने में समर्थ न हो सके यह खेद की बात है। वैदिक धर्म के युक्ति युक्त, न्याय सङ्गत और सार्वभौम सिद्धांतों की बात जाने भी दें तो यह कहना कि जैन बौद्ध धर्म जैसे पूर्ण अहिंसा प्रतिपादक मतों और ईसाइयत तथा इस्लाम के इस विषयक सिद्धांत में कोई अन्तर नहीं, इसी प्रकार वैदिक धर्म और इस्लाम के सदाचारादि विषयक विचार एक जैसे हैं, इन के विषय में अपने अज्ञान को प्रकट करना है। इनमें आकाश पाताल का अन्तर निष्पक्षपात विचारकों को स्पष्ट दिखाई देगा। यद्यपि एकेश्वरपूजादि कुछ थोड़े से विषयों में समानता से भी इंकार नहीं किया जा सकता। सृष्टि के प्रारम्भ में परम पिता परमेश्वर द्वारा मनुष्य मात्र के कल्याण और मार्गप्रदर्शनार्थ एक न्याय सङ्गत, युक्ति युक्त, सार्वभौम धर्म का उपदेश दिया जाना सर्वथा तर्कसम्मत विश्वास है। वही धर्म कालान्तर में प्रचलित होने वाले विविध मतों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मूल हुआ। जैसे कि पं० गङ्गाप्रसाद जी एम० ए० भू० पू० प्रधान सार्वदेशिक सभा ने अपने Fountainhead of Religion नामक अत्युत्तम ग्रन्थ में बड़ी योग्यता से सप्रमाण दिखाया है। यहां इस विषय के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। इस विषय में तो महात्मा गांधी जी भी सहमत थे कि हमें ईसाइयत, इस्लाम आदि मतों का अनुशीलन करते हुए विवेक से काम लेना चाहिये। स्वयम् उन्होंने ईसाइयों के अनेक मन्तव्यों की समालोचना आत्मकथा तथा Christian missions आदि में की है। उनकी 'आत्म कथा' से निम्न उद्धरण इस विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय है:—

'मेरी कठिनाइयों की जड़ बहुत गहरे में थी। 'एक मात्र ईसा-मसीह ही ईश्वर के पुत्र हैं, जो उन्हें मानता है, वही

मुक्ति का अधिकारी हो सकता है'—यह बात मेरा मन किसी तरह स्वीकार करने को तैयार नहीं होता था। यदि ईश्वर का पुत्र होना सम्भव है तो हम सभी उनके पुत्र हैं। ईसा मसीह ने अपनी जान देकर अपने खून से संसार के सब पापों को धो डाला है, इस बात को अक्षरशः सत्य मानने को मेरी बुद्धि कबूल नहीं करती। इसके अलावा ईसाई लोगों का विचार है कि आत्मा केवल मनुष्यों में ही है, अन्य जीवों में नहीं है, एवं शरीर के विनाश के साथ ही साथ उनका सब कुछ विनष्ट हो जाता है। इस बात से मेरा मन सहमत नहीं है। ईसा मसीह को मैं एक महान् त्यागी महापुरुष और धर्म गुरु के रूप में मान सकता हूं। यह भी मैं स्वीकार करता हूँ कि ईसा की मृत्यु संसार में बलिदान का एक महान् दृष्टांत छोड़ गई है। पर मेरा हृदय यह स्वीकार नहीं कर सका है कि उनकी मृत्यु ने संसार में कोई अभूतपूर्व या रहस्यपूर्ण प्रभाव डाल रखा है। ईसाई लोगों के पवित्र जीवन में मुझे ऐसा कुछ भी नहीं मिलता है जो अन्य धर्मावलम्बियों के पवित्र जीवन में नहीं मिलता। सात्विक दृष्टि से भी ईसाई धर्म के तत्वों में कोई ऐसी असाधारणता नहीं है और त्याग की दृष्टि से देखने पर तो हिंदू धर्म ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है। मैं ईसाई धर्म को पूर्ण अथवा सर्व श्रेष्ठ धर्म मानने को तैयार नहीं हूं।" "जब प्रसङ्ग आ उपस्थित होता है तो मैं अपने ईसाई मित्रों के आगे धर्म सम्बन्धी यह हृदयोद्गार व्यक्त कर दिया करता हूं पर मुझे इसका सन्तोष जनक उत्तर उन से नहीं मिलता।" (आत्मकथा पृ० २-६-२०७) वस्तुतः महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में ईसाई मत की जो आलोचना की है उसमें इनमें से प्रायः सभी बातों का समावेश है सिवाय इसके कि उन्होंने 'धर्म गुरु' जैसे अत्युत्तम पद का ईसामसीह के लिये कहीं प्रयोग नहीं किया।

महात्मा गांधी को सेठ अब्दुल्ला आदि इस्लाम की महत्ता और पवित्रता के विषय में बहुत कुछ कहते रहते थे। तब उन्होंने अपने गुरु तुल्य भाई रामचन्द्र जी को इस विषय में पत्र लिखा जिसके उत्तर में भाई रामचन्द्र जी ने लिखा कि 'हिंदू धर्म में जो गूढ़ तत्व और विचार है, आत्मा की ओर उसका जो स्थिर लक्ष्य है, उसमें जो अपार दया भाव है वह अन्य धर्मों में नहीं। पक्षपात रहित दृष्टि से विचार करने पर मैं इसी सिद्धांत पर पहुँचा हूं—यही मेरा विश्वास है।"

(महात्मा गांधी की आत्म कथा पृ० २०८)

इस पत्र में प्रयुक्त 'हिंदू धर्म' का अर्थ यदि उसके विशुद्ध और मूल में प्रचलित वैदिक धर्म लिया जाए तो यह बात सर्वथा यथार्थ है। इसे अनेक प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध किया जा सकता है किन्तु विस्तार भय से ऐसा करना हमें उचित नहीं प्रतीत होता। दुःख की बात यह है कि महात्मा गांधी जी वेदों के विद्वान् न होने के कारण जहां वैदिकधर्म को विशुद्ध रूप में समझने में समर्थ न हुए वहां अरबी आदि का ज्ञान न होने के कारण वे कुरान की अनेक हानिकारक शिक्षाओं को भी पूर्णतया न जान सके इस कारण उनके इस विषयक सिद्धांतों का अधिक महत्त्व नहीं। महर्षि दयानन्द ने कुरान और बाइबल आदि की आलोचना उन दोनों के प्रामाणिक माने जाने वाले अनुवादों के आधार पर और विशुद्ध भाव से की, अतः उनको इसके लिये दोष देना सर्वथा अनुचित है। धर्म विषयक महर्षि का मन्तव्य ही न्याय संगत और युक्ति युक्त है।

———

दशम अध्याय

मतमतान्तर-समीक्षा

महात्मा गांधी जी और ईसाइयत के सिद्धान्त—

महात्मा जी के विषय में प्रायः यह माना जाता है कि वे ईसाइयत, इस्लाम आदि को भी पूर्णतया सत्य मानते थे किन्तु इसकी असत्यता का निर्देश पहले किया जा चुका है। "Christian Missions in India" नामक महात्मा गांधी जी की पुस्तक (जिस में उनके लेखों, भाषणों और संवादों का संग्रह है और जो सन् १९४१ में नवजीवन प्रेस अहमदाबाद से प्रकाशित हुई थी) इस विषय में विशेष रूप से पढ़ने योग्य है। उस में महात्मा जी की ईसाई प्रचारकों से भेंटों या चर्चाओं का जिन्हें शास्त्रार्थ का नाम देना अनुचित न होगा) बड़ा मनोरंजक वृत्तान्त दिया गया है। महात्मा गांधी के ऐसे एक महत्वपूर्ण शास्त्रार्थ का जो एक ८६ वर्ष की वृद्धा किन्तु अत्यन्त उत्साहपूर्ण ईसाई प्रचारिका लेडी एमिल किन्नियार्ड के साथ २५ जुलाई १९४० को सेवाग्राम में हुआ उल्लेख यहां आवश्यक प्रतीत होता है। इसका विस्तृत वृत्तान्त श्री महादेव देसाई ने "Christion Misssions in India" के २८१ से २८६ तक के पृष्ठों में 'A Hot Gospeller इस शीर्षक से दिया है, उसमें से निम्न अंश विशेष उल्लेखनीय है :—

लेडी एमिली ने ईसा मसीह के विषय में कहा कि 'Jesus Christ was the Son of God' अर्थात् ईसामसीह ईश्वर का पुत्र था। इस पर महात्मा गांधी ने उत्तर दिया

"and so are we" और एने ही हम भी (ईश्वर के पुत्र) हैं। लेडी एमिली ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा कि वह ईश्वर का एक मात्र पुत्र था। "No protested Lady Emily. He was the only Son of God"

इस पर महात्मा गांधी जी ने जो उत्तर दिया और इस ईसाई सिद्धांत से अपना स्पष्ट मतभेद प्रकट किया वह उस पुस्तक में निम्न शब्दों में उल्लिखित है:—

'It is there' said Gandhi Ji, that the mother (Lady Emily) and son (Gandhi Ji) must differ. With you Jesus was the only begotten son of God With me He was the son of God, no matter how much purer than us all, but every one of us is a son of Gcd and capable of doing what Jesus did, if we but endeavour to express the Divine in us.'

(Christian Missions" P. 282)

अर्थात् यहां माता (लेडी एमिली) और पुत्र (गाँधी जी) का घोर मतभेद है। आपके विचार में ईसामसीह ईश्वर का इकलौता बेटा था पर मेरे विचार में वह ईश्वर का एक पुत्र था चाहे हमारी अपेक्षा वह कितना ही अधिक पवित्र क्यों न हो किन्तु हम में से प्रत्येक ईश्वर का पुत्र है और वह कार्य कर सकता है जो ईसा ने किया यदि हम अपने अन्दर ईश्वरीयता या दिव्यता को प्रकट करनें का प्रयत्न करें।

इस पर लेडी एमिली ने महात्मा गांधी जी के विचार से असहमति प्रकट करते हुए कहा 'Yes, that is where I h ink you are wrong"..Christ is our salvation

, and without receiving Him in our hearts we cannot be saved.,, she added."

अर्थात् हां, यहां आपका विचार अशुद्ध है । ईसामसीह हमारे लिये मुक्ति प्रदाता है और उसको हृदय में ग्रहण किये विना हम रक्षा नहीं पा सकते

इस पर महात्मा गांधी जी ने निम्न तर्क किया:—

So those who accept the Christ are all saved. They need do nothing more ?

अर्थात् इस प्रकार आपकी वात को मानने पर जो ईसा को मानते हैं वे सव रक्षा वा मुक्ति पाते हैं। उन को और कुछ करने की आवश्यकता नहीं ।

लेडी एमिली ने उत्तर दिया:—

"We are sinners all, and we have but to accept Him to be saved."

अर्थात् हम सव पापी हैं और हमें रक्षा अथवा मुक्ति पाने के लिये केवल उस को स्वीकार करने की आवश्यकता है ।

म० गांधी जी ने इस पर व्यङ्ग पूर्ण भाषा में कहा:—

'And then we may continue to be sinners ? Is that what you mean ?"

और तब हम पापी वन रहें ! क्या आपका यही मतलब है । इत्यादि

विस्तार भय से इस मनोरंजक शास्त्रार्थ का इतना अंश उल्लिखित करना ही पर्याप्त है जिससे स्पष्ट है कि महात्माजी ईसाई मत की वहुत सी बातों को सत्य और युक्ति-युक्त न मानते थे ।

इस्लामी प्रथा का विरोध तथा कुरान की आलोचना का अधिकार:—

इसी प्रकार कुरान तथा मुहम्मदी मत की कई बातों और प्रथाओं को भी महात्मा जी अनुचित तथा अग्राह्य समझते थे यह उनके निम्न लिखित लेख से स्पष्ट हो जाएगा। काबुल के कुछ काजियों ने जमायते अहमदिया के दो मेम्बरों को पत्थर से मरवा कर मृत्यु दण्ड देने का हुक्म दिया था जिसको हर मुसलमान मौलवी ने और कुछ मुसलमानों ने भी पाक कुरान मजीद के हुक्म के बमौजिब बतलाते हुए उसका समर्थन किया था। परन्तु महात्मा गांधी जी ने १६ फरवरी १६२५ के Young-India में इसकी घोर निन्दा करते हुए लिखा था:—

'As a human being living in the fear of God, I should question the morality of the method under any circumstances whatsoever Whatever may have been necessary or permissible during the prophet's life time and his age, this particular form of penalty cannot be defended on the mere ground of its mention in Quran. Every formula of every religion has in this age of reason, to submit to the acid test of reason and universal assent. Error can claim no exemption, if it can be supported by the scriptures of the world."

जिसका भाव यह है परमेश्वर से डरने वाले एक मनुष्य के रूप में किसी भी परिस्थितियों में किये. ऐसे साधन की नैतिकता में मुझे सन्देह करना चाहिये। पैगम्बर (मुहम्मद) के जीवित

काल या उनके समय में जो कुछ भी आवश्यक या अनुमोदनीय रहा हो, इस प्रकार के दण्ड का केवल इसआधार पर कि कुरान में इस का प्रतिपादन है समर्थन नहीं किया जा सकता। तर्क के इस युग में प्रत्येक मत के प्रत्येक मन्तव्य को तर्क और सार्वभौमता की कसौटी पर कसना पड़ेगा। अशुद्धि वा भूल इस लिये क्षन्तव्य होने का दावा नहीं कर सकती कि संसार के धर्म ग्रन्थों द्वारा उसको समर्थन प्राप्त है।"

महात्मा गांधीजी के ये शब्द बड़े महत्त्व पूर्ण थे और वस्तुतः महर्षि दयानन्द की विविध मतों के मन्तव्यों और प्रथाओं को तर्क की कसौटी पर कसने की भावना ही उनके द्वारा अभिव्यक्त हो रही थी। इस पर पंजाब खिलाफत कमेटी के उस समय के प्रधान मौलाना जफ़र अली खान बड़े रुष्ट हुए। उन्होंने बतलाया कि इससे महात्मा गांधी जी की इज्जत मुसलमानों की नज़रों में कम हो गई। इसके उत्तर में महात्मा गांधी जी ने यङ्ग इण्डिया में लिखा:—

"It would not be a day's purchase if my prestige among the Muslems could be reduced to nullity on account of honest expression of my opinion about practices defended in the name of Islam, The Maulana Saheb's suggestion that I should not criticise any act in Islam or say any thing of the Quran, because I am the president of the Congress and the friend of the Muslims is, I am afraid unacceptable to me."

अर्थात् मुसलमानों में मेरे प्रभाव व मान एक कौड़ी का भी मूल्य नहीं रखता यदि मेरी इस्लाम के नाम पर समर्थित

कार्यों के विषय में अपनी सच्ची सम्मति प्रकाशित करने से वह नष्ट हो सकता है। मौलाना साहेब का यह निर्देश कि यतः मैं कांग्रेस का प्रधान हूँ (उनदिनों सन् १९२४ में महात्मा जी कांग्रेस के प्रधान थे) और मुसलमानों का मित्र हूँ मुझे इस्लाम के किसी कार्य की आलोचना नहीं करनी चाहिये अथवा कुरान के विषय में कुछ नहीं कहना चाहिये, मुझे भय है, मुझे स्वीकार्य नहीं है।

यदि महात्मा गांधी जी इस्लाम के कई मन्तव्यों अथवा क्रियाओं के विषय में आलोचना करना अपना अधिकार व कर्तव्य समझते और उसका पालन करते थे (जैसा कि ऊपर उद्गार से स्पष्ट है) तो महर्षि दयानन्द के इस विषय में अधिकार और सत्य प्रचारक के रूप में कर्तव्य पर उनका आक्षेप करना कहाँ तक उचित था यह पाठक महानुभाव ही विचार करें। उनकी सत्यार्थ प्रकाश विषयक सन् १९२४ की समालोचना राजनैतिक विचारों से ही अधिकतर प्रभावित थी किंतु पीछे से गम्भीर विचार के पश्चात् सन् १९४५ में सिन्ध सरकार द्वारा सत्यार्थप्रकाश के १४ वें समुल्लास पर प्रतिबन्ध लगाने पर उन्होंने ३-११-४६ के 'हरिजन' में उस प्रतिबन्ध का घोर विरोध किया था और सत्यार्थप्रकाश के महत्त्व का समर्थन किया था। उन्होंने उस लेख में लिखा था कि:—

"Satyarth Prakash enjoys the same status for 40 Lakhs of Aryasamajists as the Quran for Muslims and the Bible for the Christians. It seems mischievous to ban a scriptural book."

अर्थात् सत्यार्थप्रकाश की ४० लाख आर्य समाजियों के लिये वही स्थिति है जो कुरान की मुसलमानों और बाइबल की ईसा-

इयों के लिये हैं। ऐसे एक धर्मग्रन्थ पर प्रतिबन्ध लगाना शरारत पूर्ण प्रतीत होता है। इत्यादि

महर्षिकृत समीक्षा का उद्देश्य अति पवित्र:—

यहां यह विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं कि महर्षि दयानन्द ने मत मतान्तरों की समीक्षा बड़े पवित्र उद्देश्य से की थी। सत्यार्थप्रकाश की प्रारम्भिक भूमिका और उत्तरार्ध के चारों समुल्लासों की अनुभूमिकाओं में उन्होंने निम्नलिखित स्पष्ट शब्दों में इसका प्रतिपादन किया था:—

प्रारम्भिक भूमिका में महर्षि ने लिखा:—

"विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य- का स्वरूप समर्पित कर दें पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।"

(सत्यार्थप्रकाश प्रारम्भिक भूमिका)

११ वें समुल्लास की भूमिका में महर्षि ने लिखा:—

"मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने का है। इसी प्रकार सब मनुष्यों

को न्याय दृष्टि से वर्तना अति उचित है। मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य के निर्णय करने कराने के लिये है न कि वाद विवाद विरोध करने कराने के लिये। इसी मत मतान्तर के विवाद से जगत् में जो २ अनिष्ट फल हुये, होते हैं और होंगे उनको पक्षपात रहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मत मतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योन्य को आनन्द न होगा।" इत्यादि

ईसाई मत विषयक त्रयोदश समुल्लास की अनुभूमिका में महर्षि ने लिखा कि:—

"यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास के लिये है, न किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ। इस लेख से यही प्रयोजन है कि सब मनुष्य मात्र को देखना सुनना लिखना आदि करना सहज होगा और पक्षी प्रतिपक्षी होके विचार कर ईसाई मत का आन्दोलन सब कोई कर सकेंगे। इससे यह प्रयोजन सिद्ध होगा कि मनुष्यों को धर्म विषयक ज्ञान बढ़कर यथायोग्य सत्यासत्य मत और कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म सम्बन्धी विषय विदित होकर सत्य और कर्तव्य कर्म का स्वीकार, असत्य और अकर्तव्य कर्म का परित्याग करना सहजता से हो सकेगा। सब मनुष्यों को उचित है कि सब से मत विषयक पुस्तकों को देख समझकर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें।" इत्यादि

इस्लाम की आलोचना विषयक चतुर्दश समुल्लास की अनुभूमिका में महर्षि ने लिखा:—

"यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिये सब मतों के विषयों का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक

दूसरे के दोषों का खंडन कर गुणों का ग्रहण करें, न किसी अन्य मत पर न इस मत पर झूठ मूठ बुराई लगाने का प्रयोजन है किन्तु जो २ भलाई है वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये जाने पर भी जिसकी इच्छा हो माने वा न माने किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता और यही सज्जनों की रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जान कर गुणों को ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ, दुराग्रह न्यून करें करावें क्योंकि पक्षपात से क्या २ अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं। सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंगुर जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है। इसमें जो कुछ विरुद्ध लिखा गया हो उसको सज्जन लोग विदित कर देंगे, तत्पश्चात् जो उचित होगा तो माना जाएगा क्यों कि यह लेख हठ, दुराग्रह ईर्ष्या, द्वेष, वाद विवाद और विरोध घटाने के लिये किया गया है न कि इनको बढ़ाने के अर्थ क्योंकि एक दूसरे की हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुंचाना हमारा मुख्य कर्म है।"

(सत्यार्थप्रकाश चतुर्दश समुल्लास अनुभूमिका)

इतने पवित्र भाव से केवल सत्य के प्रकाश और प्रचारार्थ की गई समालोचना पर आक्षेप करना उचित नहीं। इस आलोचना से सब विचार शील पुरुषों ने लाभ ही उठाया है॥

इस अध्याय की समाप्ति से पूर्व महात्मा गांधी जी के 'हरिजन सेवक' के १६ दिसम्बर १६३६ और १३ फरवरी १६३७ के

अङ्कों में प्रकाशित लेखों से जो ईसाई प्रचारकों के विषय में प्रयुक्त कठोर शब्दों पर आक्षेप के उत्तर में लिखे गये थे उद्धरण देना भी आवश्यक प्रतीत होता है। विस्तार भय से कुछ थोड़े से वाक्य ही उद्धृत करने पर्याप्त होंगे।

१६ दिसम्बर १६३६ के लेख में महात्मा जी ने लिखा:—

"मैं अपने को मिशनरियों का मित्र मानता हूं। फिर भी मेरी मित्रता कभी इतनी अन्धी नहीं रही है कि मैंने कभी उन के और जिन प्रणालियों और तरीकों के वे समर्थक हैं उनके दोष और मर्यादा को भी न देखा हो।

अक्सर लोग इस मिथ्या डर से कि कहीं ऐसा कहना अनुचित तो न होगा, सामने वाले के चित्त को दुःख तो नहीं पहुँचेगा ऐसी बातें कहते कहते रुक जाते हैं जो कि वे जानते हैं कि सच हैं और इसका परिणाम यह होता है कि उन्हें कई तरह का झूठ-पाखण्ड करना पड़ता है। पर अगर हमें व्यक्तियों, समाजों और राष्ट्रों में मानसिक अहिंसा का विकास करना है तो हमें सत्य कहना ही होगा, फिर क्षण भर के लिये वह चाहे कितना ही कडुआ और अप्रिय लगे।"

(देखो "गांधी जी" भाग १० अहिंसा २ य भाग पृ० १७६ काशी विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित

इसी लेख में उन्होंने अन्यत्र लिखा:—

'अगर बोलने वाला जानता है कि कोई बात सच्ची है तो महज अरुचिकर शब्द कह देना या लिखना हिंसात्मक नहीं कहा जा सकता।.........असल में हिंसा तो तब होती है जब हम अपने तथोक्त प्रतिपक्षी को क्रिया, वाणी वा विचार से भी तकलीफ पहुँचाना चाहते हैं। यहां न तो कोई ऐसा उद्देश्य था न हो सकता था।" इत्यादि

(हरिजन सेवक १६ दिसम्बर १६३६ अहिंसा किसे कहें शीर्षक)

"हरिजन सेवक' के १३ फर्वरी १६३७ के लेख में महात्मा जी ने लिखा:—

'कठोर सत्य विवेक और नम्रता पूर्वक कहा जा सकता है पर पढ़ने में तो वे शब्द कठोर लगेंगे ही। सत्य का पालन करना हो तो आपको झूठे को झूठा कहना ही चाहिये। यह शब्द शायद कठोर समझा जाये पर उपयोग इस शब्द का करना ही पड़ेगा।

(देखो 'गांधी जी' भाग १० अहिंसा २ य भाग पृ० १८३)

वस्तुतः 'सत्यार्थ प्रकाश में शुद्ध भाव से महर्षि दयानन्द कृत समालोचना का इससे उत्तम समर्थन और क्या हो सकता है ?

———

एकादश अध्याय

स्त्रियों की स्थिति तथा विवाहादि विषयक विचार

महर्षि दयानन्द ने समाज सुधार के लिये जहां अन्य अनेक प्रशंसनीय कार्य किये वहां स्त्रियों की समाज में शोचनीय अवस्था को उन्नत करने के लिये उन्होंने जो कार्य किया वह भी नितान्त अभिनन्दनीय था। वेद मन्त्र तथा मनुस्मृति आदि के श्लोकों को उद्धृत करते हुए महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि आदि ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा:—

"जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उस में विद्यायुक्त पुरुष हो के 'देव' संज्ञा धरा के आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां सब क्रिया निष्फल हो जाती हैं ॥" इत्यादि

(सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास)

महर्षि दयानन्द ने कन्याओं का अपनी इच्छानुसार आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत के पालन और वेद शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन का अधिकार "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।" इत्यादि के आधार पर प्रतिपादित किया और महिलाओं को समाज में उन्नत और प्रतिष्ठित स्थान पुनः दिलाया। महर्षि के इस विषयक अद्भुत कार्य का जगद्विख्यात विचारक स्व० श्री रोमां रोलां ने बड़े आदर के साथ इन शब्दों में उल्लेख किया:—

"Dayanand was no less generous and no less bold in his crusade to improve the conditionof

women, a deplorable one in India. He revolted against the abuses from which they suffered, recalling that in the heroic age they occupied in the home and society a position at least equal to men." etc("Life of Shri Rama Krishna" P.163)

अर्थात् दयानन्द स्त्रियों की भारत में शोचनीय अवस्था को सुधारने में भी कम उदार और कम साहसी न थे। उन के प्रति जो अनुचित व्यवहार किया जा रहा था तथा जिन बुराइयों से वे पीड़ित थीं उनके विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया और यह स्मरण कराया कि प्राचीन वीर युग में घर में और समाज में उनकी पुरुषों के समान ही प्रतिष्ठा थी। इत्यादि

इस प्रसङ्ग में उन्होंने महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित कन्या शिक्षा, स्वयंवर के अधिकारादि का भी उल्लेख किया है। बाल्यविवाह की हानिकारक अवैदिक पद्धति का विरोध करते हुए महर्षि दयानन्द ने बताया कि कन्याओं का १६ और पुरुषों का २४ वर्ष की आयु से पूर्व विवाह न होना चाहिये। अक्षत योनि विधवाओं के विवाह का उन्होंने पूर्ण समर्थन किया।

महात्मा गांधी जी के विचार

महात्मा गांधी जी के विचार भी इन विषयों में महर्षि के विचारों से बहुत मिलते हैं। "गांधी-विचार दोहन" में महात्मा जी के स्त्री जाति विषयक विचारों का संग्रह करते हुए लिखा कि "स्त्री जाति के प्रति रक्खा गया तुच्छ भाव हिन्दू समाज में घुसी हुई सड़न है, धर्म का अङ्ग नहीं है। धार्मिक पुरुष भी इस प्रकार के तिरस्कार भाव से मुक्त नहीं हैं यह बात बतलाती है कि यह सड़न कितनी गहराई तक पहुंच गई है।" (पृ० ३०)

"पालन पोषण और शिक्षण में लड़के और लड़की में भेद

करने वाले और लड़की के प्रति कम कर्तव्य बुद्धि रखने वाले माता पिता पाप करते हैं।" "वयः प्राप्त पुरुष जितनी स्वतन्त्रता का अधिकारी है, उतनी ही स्वतन्त्रता की अधिकारिणी स्त्री भी है। "स्त्री अबला नहीं है बल्कि अपनी शक्ति को पहचाने तो पुरुष से भी अधिक सबला है। वह माता रूप में जिस रीति से बालक को घड़ती है और पत्नी होकर जिस प्रकार पति को चलाती है, बहुत कर के पुरुष वैसे ही बनते हैं।

('गांधी विचार दोहन' पृ० ३०)

"स्त्रियों को विवाह करना ही चाहिये यह धारणा भ्रम है। उसे भी यावज्जीवन ब्रह्मचर्य पालन का अधिकार है।"

(पृ० ३१)

महात्मा गांधी भी बाल्यविवाह के प्रबल विरोधी

महर्षि दयानन्द की तरह महात्मा गांधी जी भी बाल्यविवाह के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने इस विषय में 'यङ्ग इण्डिया' आदि पत्रों में अनेक लेख लिखे तथा भाषण दिये थे। उदाहरणार्थ २६-८-१९२६ के 'यङ्ग इण्डिया' में Curse of child mariage अथवा 'बाल्य विवाह का अभिशाप' इस शीर्षक से लेख लिखते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा कि:—

"This custom of child marriage is both a moral as well as a physical evil for, it undermines our morals and induces physical degeneration. By countenancing such customs, we recede from God as well as Swaraj." "I am not opposed to legislation in such matters, but I do lay greater stress or cultivation of public opinion."

"Ordinarily, a girl under 18 should never be given in marriage."

"To the woman" by Mahatma Gandhi edited by Ananda T. Hingvani P. 123)

अर्थात् यह बाल्य विवाह की प्रथा-नैतिक और शारीरिक दोनों दृष्टियों से बुरी है क्योंकि यह हमारी नैतिकता को नष्ट करती और शारीरिक निर्बलता को उत्पन्न करती है। इस प्रकार की प्रथाओं का समर्थन करके हम परमेश्वर और स्वराज्य से परे हटते हैं। मैं ऐसे विषयों में विधान बनाने का भी विरोधी नहीं हूँ किन्तु जनमत तय्यार करने पर मैं अवश्य अधिक बल देता हूं।...साधारणतया १८ वर्ष की आयु से पूर्व कन्याओं का विवाह नहीं होना चाहिये।

पुरुषों के लिये महात्मा गांधी जी ने कम से कम २५ की आयु को ठीक माना था यह उन के अनेक लेखों तथा भाषणों से स्पष्ट है। 'उदाहरणार्थ गांधी विचार दोहन' के पृष्ठ २८ पर महात्मा जी के ब्रह्मचर्याश्रम विषयक विचारों का संकलन करते हुए लिखा है:—

'ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य जन्म से ही होता है। इस कारण इसी आश्रम को बिल्कुल अनिवार्य कह सकते हैं। इस आश्रम को कभी न छोड़ने अर्थात् यावज्जीवन ब्रह्मचर्य पालन करने का जो चाहे उसे अधिकार है। कम से कम पुरुष को २५ वर्ष तक और स्त्री को १८ वर्ष तक इस आश्रम का पवित्रता पूर्वक पालन करना चाहिये।"

(गांधी विचार दोहन पृ० २०)

अक्षत योनि विधवाओं का विवाह

जिस प्रकार महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में मनुस्मृति के—

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्, गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा, पुनः संस्कारमर्हति ॥
(मनु० ९।१७६)

इस श्लोक को उद्धृत करते हुए लिखा कि:—

'जिस स्त्री वा पुरुष का परिग्रहण मात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो उन का अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिये।"

वैसे ही महात्मा गांधी जी ने ५ अगस्त १९२६ के 'यंग इण्डिया' में Enforced widow hood अर्थात् बाधित-वैधव्य शीर्षक वाले लेख लिखते हुए और सन् १९२१ की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार यह दिखाते हुये कि १५ से कम आयु की विधवाओं की संख्या ३२९०७६ है लिखा: –

"To force widowhood upon little girls is a brutal crime for which we Hindus are daily paying dearly." If our couscience was truly awakened there would be no marriage before 15 ard we would declare, that these three lacs of girls were never religiously married. There is no warrant in any Shastra for such widowhood. If we would be pure, if we would save Hinduism, we must rid ourselves of this poison of enforced widowhood."

(Young India Dated 5-8-1926)

अर्थात् छोटी लड़कियों पर वैधव्य लादना यह एक अपाशविक अपराध है जिसका फल हम हिंदू प्रतिदिन भोग रहे हैं।

यदि हमारी अन्तरात्मा जागृत होती तो १५ वर्ष की आयु से पूर्व किसी कन्या का विवाह ही न होता और हम घोषित कर देते कि इन तीन लाख लड़कियों का कभी धार्मिक विवाह नहीं हुआ। शास्त्र में ऐसे वैधव्य का कोई विधान नहीं है। यदि हम पवित्र बनना और हिंदू धर्म को बचाना चाहते हैं तो हमें अपने को इस वाधित वैधव्य के विष से मुक्त करना होगा।

'गांधी विचार दोहन' के पृष्ठ ३७-३८ पर लिखा है:—

ऐसी १६ से कम आयु की विधवा को कुंवारी कन्या के समान मान कर मां बाप को उनके ब्याह की उतनी ही चिंता करनी चाहिये जितनी ये कुंवारी बेटी के ब्याह की करते हैं और उसे ब्याह देना चाहिये।

("गांधी विचार दोहन" पृ० ३७-३६)

ऐसी ही अन्य विषयों में समानता है जिसे विस्तार भय से यहां उद्धृत करना अनावश्यक है।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि महात्मा गांधी के विचार महर्षि दयानन्द जी के विचारों के प्रायः अनुकूल हो गये थे। अहिंसादि विषयों में जो कुछ भेद था उसका दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

———

परिशिष्ट सं० १

पूज्य महात्मा गांधी जी से नई देहली में पहली भेंट

(ले०—धर्मदेव विद्या वाचस्पति अध्यक्ष जाति भेद निवारक संघ प्रधान केन्द्रीय हिन्दी रक्षा समिति, देहली)

दिनांक १४-६-४६ सायंकाल ५ बज कर १० मिनट से ५ बज कर ४५ मिनट तक वाल्मीकि मन्दिर, नई देहली।

प्रणाम के पश्चात् मैंने पूज्य महात्मा जी से पूछा कि आप को स्मरण है कि यरवडा जेल में मैंने आप से भेंट की थी। क्या पहचानते हैं? उन्हों ने कहा खूब अच्छी तरह से।

(१) मैंने सब से पूर्व जातिभेद निवारक संघ का जिकर करते हुए (जिस की नियमावली उनके पास पहले भेजी जा चुकी थी) उस के व्रतपत्र सदस्यता फार्म आदि का वर्णन किया और उन का आशीर्वाद मांगा। उन्होंने कहा मेरे आशीर्वाद की पृथक् आवश्यकता ही क्या है? वह तो जैसे कि लिख चुका हूं प्रत्येक शुभ आन्दोलन के साथ विद्यमान ही है। मैंने कहा यह तो आपकी निरभिमानिता है। आप जैसे महात्माओं का आशीर्वाद लोग चाहते हैं। आपको इस से पूर्ण सहमति तो है ना? उन्होंने कहा कि मेरी इस से पूर्ण सहमति है मैं तो अब और भी आगे जाता हूँ और कहता हूं कि जन्म से भंगियों तक के साथ उच्च जाति वालों को विवाह कर लेना चाहिये।

(२) इसके पश्चात् मैंने अपनी "हमारी राष्टभाषा" पुस्तक

का जिक्र करते हुये (जिसकी प्रति पहले भिजवा चुका था) केन्द्रीय हिंदी रक्षा समिति के उद्देश्य तथा कार्य से जो डाकखानों में हिंदी के साथ अन्याय को दूर करने के लिये किया जा रहा है। महात्मा जी को परिचित कराया जिस पर उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया हिंदी के साथ इस प्रकार का अन्यायपूर्ण व्यवहार होता है। इसके बाद मैंने कहा कि आपने अब जिस हिंदुस्तानी का प्रचार शुरू कर रक्खा है उसमें आपका उद्देश्य शुद्ध और यह होगा कि सरल हिन्दी को अपनाया जाये पर इसका परिणाम हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू का प्रचार हो रहा है। पं० जवाहरलाल जी जैसे मान्य नेता और श्री हरिभाऊ जैसे हिन्दी के अच्छे लेखक भी उर्दू शब्दों से भरी हुई भाषा का प्रयोग करने लगे हैं (जिसके उदाहरण मैंने पं० जवाहरलाल जी के ७-६-४६ के ब्रोडकास्ट भाषण और हरिभाऊ उपाध्याय जी के पं० "जवाहरलाल जी की आत्मकथा" के हिन्दी अनुवाद से दिये। मैंने कहा कि आपको यद्यपि उर्दू का अच्छा अभ्यास नहीं तो भी आप उर्दू शब्दों के प्रयोग का काफी यत्न करते हैं। हमें तो यह प्रवृत्ति अच्छी प्रतीत नहीं होती! आप जो यह कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति हिन्दी उर्दू दोनो भाषाओं और देवनागरी अरबी दोनों लिपियों को सीखे यह भी अव्यवहार्य है। अपनी प्रान्तीय भाषा, राजभाषा अंग्रेजी के अतिरिक्त दोनों भाषाओं को सीखने में काफी कठिनाई सर्व साधारण को पेश आयेगी। वे कहने लगे इसमें हानि भी क्या है ? मैंने कहा इसमें हानि की सम्भावना यह है कि क्षमा करें मुसलमान तो आपकी हिंदी सीखने की बात को मानेंगे नहीं, हिन्दू आप पर अधिक श्रद्धा के कारण उर्दू सीखना शुरू कर देंगे जिसका परिणाम बुरा निकलने की आशा है, क्योंकि कुछ समय बाद उर्दू जानने वालों की संख्या अधिक हो जाएगी और इस आधार पर फिर उर्दू

के राष्ट्रभाषा होने का दावा किया जाएगा। महात्मा जी ने कहा कि आर्यसमाजियों को ऐसे डरना तो नहीं चाहिए। उर्दू हिन्दी का मुकाबला क्या कर सकेगी? लिपियों के विषय में भी यही बात है। क्या तुमने कभी यह देखा है कि देवनागरी लिपि को जानने वालों की संख्या क्या है और उर्दू जानने वालों की कितनी? मैंने उत्तर दिया कि यह लगभग ७० प्रतिशत और ३० प्रतिशत है। तब उन्होंने कहा फिर इनका मुकाबला ही क्या है? जिसमें डरने की बात हो। साथ ही देवनागरी लिपि की अपनी वैज्ञानिक शुद्धता और महत्त्व है जिसके कारण उर्दू, रोमन लिपि आदि उसका मुकाबला नहीं कर सकती। मैंने कहा कि मैं दक्षिण में बहुत वर्ष रहा हूं और कर्णाटक आदि भाषाओं का मुझे ज्ञान है इन सब भाषाओं में संस्कृत शब्द बहुत हैं अतः संस्कृत निष्ठ हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है जिसकी कसौटियां मैंने "हमारी राष्ट्रभाषा" से पढ़कर सुनाईं। मैंने यह भी कहा कि महात्मा जी आप क्षमा करें हम लोगों का यह विचार है कि आप अनजाने मुसलमानों की चाल में फंस गये हैं जो उर्दू के स्थान पर हिन्दुस्तानी शब्द के प्रयोग की है जैसे कि अ० भा० मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन में जुलाई सन् १९३७ में पास किया गया था जो मैंने उन्हें "हमारी राष्ट्रभाषा" से पढ़ कर सुनाया जिससे महात्मा जी को आश्चर्य हुआ। मैंने पुनः निवेदन किया कि आपको हिन्दुस्तानी शब्द की जगह सरल हिन्दी शब्द का ही प्रयोग करना चाहिये। महात्मा जी ने बताया कि अब भी बहुत से मुसलमान मुझसे बहुत चिढ़ते हैं और कहते हैं कि गांधी बड़ा दुष्ट है हिन्दुस्तानी का नाम लेकर यह हिन्दी और देवनागरी लिपि का ही प्रचार चाहता है। वह हिंदुस्तानी का ही नाम लेता है उर्दू का नहीं। उसके भाषण में संस्कृत के ही शब्द अधिक होते हैं। इस संबंध में उन्होंने नागपुर की एक सभा

का निर्देश किया जहां कइयोंने इस तरहकी बातें कही थीं। महात्मा जी ने कहा मैं यह चाहता हूँ कि लोग हिन्दी और उर्दू में पत्र व्यवहार करें, अंग्रेजी में नहीं। यह अंग्रेजी का मोह तो जाना ही चाहिए। मैंने कहा यह तो अच्छी बात है कि आप अंग्रेजी का मोह लोगों से छुड़वा रहे हैं पर उसके स्थान में हिन्दी का प्रचार पूर्वयत् आपको करना चाहिये। हिन्दुस्तानी नाम भ्रमजनक है और उसके नाम पर उर्दू का ही प्रचार हो रहा है यह खेद की बात है।

(३) इसके पश्चात् मैंने रामधुन के विषय को लेते हुए कहा कि हम सब आपके इस कार्य के लिये जो इस नास्तिकता के युग में आप प्रार्थना सभादि द्वारा आस्तिकता का प्रचार कर रहे हैं, अत्यन्त कृतज्ञ हैं और इसे आपका एक बड़ा उपकार मानते हैं पर जैसे कि मैंने "सार्वदेशिक" के फरवरी अंक में 'महात्माजी की प्राथना सभा में रामधुन' इस शीर्षक टिप्पणी में लिखा था हम उसमें कुछ ऐसे परिवर्तन चाहते हैं जिससे उसमें सब आस्तिक भाग ले सकें। उदाहरणार्थ मैंने कहा कि मैं आपकी प्रार्थना सभा में गत रविवार ८ सितम्बर को सम्मिलित हुआ था और उससे पहले भी कई बार सम्मिलित हो चुका हूँ किन्तु जहां उपनिषद् गीता श्लोकों के पाठादि में मैं आनन्द से सहर्ष भाग लेता हूँ वहां आपके "रघुपति राघव राजा राम पतित पावन सीताराम" इस रामधुन में मैं अपनी अन्तरात्मा के अनुकूल भाग नहीं ले सकता। मैं उस समय गायत्री जपादि करता रहता हूं। महात्मा जी ने हंसते हुये कहा यह तो अच्छी बात है कि तुम गायत्री जप करते हो मैंने कब सबको बाधित किया है पर मैंने यह अवश्य कहा है कि मेरा तात्पर्य इस भजन में राम से दशरथ पुत्र राम का नहीं किन्तु सर्व व्यापक निराकार परमेश्वर का है। मैंने कहा आप ऐसा कहते जरूर हैं

और आपने 'हरिजन' में इस आशय के लेख भी लिखे थे जिन को मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ा है किन्तु यदि राम को "रमन्ते योगिनोऽस्मिन् अथवा रमते सर्वेषु भूतेषु" इस व्युत्पत्ति के अनुसार ईश्वर के हज़ारों नामों में से एक नाम मान भी लिया जाय तो भी रघुपति राघव सीताराम ये विशेषण तो निराकार ईश्वर पर घट ही नहीं सकते अतः यहां स्पष्टतया दशरथ पुत्र रामचन्द्र जी का ग्रहण है। मैंने यह भी स्पष्ट किया कि हम आर्य लोग श्री रामचन्द्र जी के लिये बड़े आदर का भाव रखते हैं और मैंने स्वयं उनकी प्रशंसा में भजन बनाये हैं पर परमेश्वर के स्थान पर उनका स्मरण हम नहीं कर सकते। क्यों न आप "अशरण शरण शांति का धाम एक सहारा तेरा नाम" इस प्रकार के भजन को जिसको ताल के साथ रामधुन की तरह ही गाया जा सकता है और जिसमें सब आस्तिक बिना किसी संकोच के सम्मिलित हो सकते हैं अपनायें अथवा यदि राम नाम ही आपको प्रिय है तो क्यों न वर्तमान रामधुन में इस प्रकार का परिवर्तन कर लें कि "जगपति सब में व्यापक राम; पतित पावन निर्मल राम।"

जिस पर उन्होंने कहा कि मैं तो राम से सर्व व्यापक ईश्वर का ही ग्रहण करता हूँ दशरथ पुत्र राम का नहीं शेष रघुपति, राघव, सीताराम ये विशेषण सर्वव्यापक व निराकार राम (ईश्वर) पर कैसे लग सकते हैं इस में कुछ रहस्य है जिसको फिर कभी बताऊंगा क्यों कि प्रार्थना का समय हो रहा है।

मैंने कहा कि अभी तो मैंने सत्यार्थप्रकाश के विषय में भी आपसे बातचीत करनी थी जिसके लिये आपके देहली से जाने से पूर्व एक बार फिर अवश्य मिलना चाहता हूं जिसपर

महात्मा जी ने भी यह कहते हुये कि इस प्रकार के संवाद में मुझे भी आनन्द आता है पर अब प्रार्थना का समय होने के कारण फिर कभी २१।२२ सितम्बर के बाद बातचीत करूंगा। तुम जो साहित्य देना चाहते हो वह दे सकते हो। मैंने अपनी सत्यार्थप्रकाश की सार्वभौमता, यूनिवरसलिटी आफ दी सत्यार्थ प्रकाश, महर्षि दयानन्द ऐन्ड सत्यार्थप्रकाश तथा श्री पं० रामचन्द्र जी द्वारा संकलित "कुरान में अन्य मतावलम्बियों के लिये अति कठोर वाक्यों का संग्रह", सत्यर्थप्रकाश के समुल्लास में उद्धृत कुरान की आयतें और उनका उल्था Punishment for the unbelievers in the Quran

'सत्यार्थप्रकाश आंदोलन का इतिहास (हितैषी कृत) तथा सार्वदेशिक में प्रकाशित "सत्यार्थप्रकाश के चतुर्दश समुल्लास का तुलनात्मक अनुशीलन" शीर्षक लेखों की प्रति और अनेक सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई इस्लाम की आलोचनाओं का संग्रह इत्यादि भेंट करते हुये पूज्य महात्मा जी को कहा कि आपका भी यह विचार प्रतीत होता है कि सत्यार्थप्रकाश चतुर्दश समुल्लास में इस्लाम की आलोचना बहुत कठोर है किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से अन्य आलोचकों के ग्रन्थों को देखने पर मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूँ कि ऋषि दयानन्द कृत आलोचना न केवल शुद्ध भाव से लिखी और युक्तियुक्त है बल्कि अन्यों की अपेक्षा नरम भी है। इस बात को मैंने अपनी लेखमाला में जो 'सार्वदेशिक' में प्रकाशित हुई दिखाया है जिस को मैं चाहता हूँ आप भी अवश्य पढ़े' (उदाहरण के रूप में मैंने उन्हें Encyclopedia of Religion and Ethics vol. viii में से मुहम्मडनिज्म विषयक लेख से जो प्रो० मार्गोलियथ डी० लिट् का लिखा हुआ है निम्न अंश सुनाये:—

"Mohammed's career as tyrant of medina is that of a robber chief whose political economy consists in securing and dividing plunder. He is himself an unbridled libertine who encourages the same passion in his followers".

इस विषय में शेष बात-चीत अगले अवसर के लिये जो उन के देहली से प्रस्थान से पूर्व होनी निश्चित हुई स्थगित की गई क्योंकि प्रार्थना के लिये अनेक नर-नारियां महात्मा जी की कुटी के बरामदे में एकत्रित हो गये थे। महात्मा जी ने सारी बात-चीत के समय बड़ा प्रेम और हर्ष प्रकट किया।

परिशिष्ट सं० २

पूज्य महात्मा गांधी जी से नई दिल्ली में भेंट

तिथि— १६ अक्तू० १९४६

रात्रि ८-१५ से ८-४५

स्थान-भङ्गी बस्ती, बाल्मीकिमन्दिर नई देहली।

मैंने चरणस्पर्श करके पूज्यपाद महात्माजी को प्रणाम किया और उन्होंने विश्वविमोहनी मधुर मुस्कराहट से मेरा स्वागत किया। महात्माजी ने इन दिनों अधिकतर मौन का अवलम्बन किया हुआ था। अतः बहुत खुलकर गतवार की तरह बातचीत न हो सकी तथापि महात्मा जी प्रायः प्रत्येक आवश्यक विचार को लिखते गये जिसे एक आश्रमस्थ गुजराती देवी पढ़कर सुनाती रहीं इस लिये संवाद पर्याप्त उपयुक्त बन गया। स्वभावतः पूर्व निर्देशा-

नुसार मुझे ही अधिकतर अपने विचारों को प्रकट करने का अवसर मिला। इस संवाद के सभी मुख्यांशों को भेंट से लौटते ही मैंने स्मृत्यर्थ अङ्कित कर लिया जो निम्न हैं।

मैंने महात्मा जी को गत १४ सितम्बर की भेंट का स्मरण कराते हुए कहा कि आपने उस दिन मेरे यह प्रश्न करने पर कि यदि 'रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीता राम' इस राम धुन में राम से आपका तात्पर्य दशरथ पुत्र राम से नहीं अपितु सर्वव्यापी राम ईश्वर है। तो रघुपति, राघव, सीता राम आदि विशेषण उसमें कैसे घट सकते हैं कहा था कि इस के रहस्य को मैं फि बताऊंगा। अब उसे बताने की कृपा करें। इस बीच में मैंने आप का हरिजन सेवक'' के २२ सितम्बर सन् १६४६ के अङ्क में प्रकाशित और उसी ता० के अंग्रेजी 'हरिजन' में अनूदित 'दशरथनन्दन राम' शीर्षक का लेख पढ़ा है जिस में आपने लिखा है:—

"बड़ी बात तो यह है कि दशरथनन्दन अविनाशी कैसे हो सकते हैं? यह सवाल खुद तुलसी दास जी ने उठाया था। और उन्होंने इस का जवाब भी दिया था। ऐसे सवालों का जवाब बुद्धि से नहीं दिया जा सकता—बुद्धि को भी नहीं। यह दिल की बात है। दिल की बात दिल ही जाने। शुरू में मैंने राम को सीता-पति के रूप में पाया। लेकिन जैसे मेरा ज्ञान और अनुभव बढ़ता गया वैसे मेरा राम अविनाशी और सर्वव्यापी बना है और है। इसका मतलब यह है कि वह सीता-पति बना रहा और साथ ही सीता-पति के माने भी बढ़ गये। संसार ऐसे ही चलता है। जिसका राम दशरथ राजा का कुमार ही रहा, उसका राम सर्वव्यापी नहीं हो सकता, लेकिन सर्वव्यापी राम का बाप दशरथ भी सर्वव्यापी बन जाता है। कहा जा

सकता है कि यह सब मनमानी है—जैसी जिसकी भावना, वैसा उसको होगा।' दूसरा कोई चारा मुझे नजर नहीं आता।' जब हम समझ जाते हैं तो हम कुछ नहीं रह जाते ईश्वर ही सब कुछ बन जाता है—वह दशरथनन्दन सीतापति, भरत व लक्ष्मण का भाई है और नहीं भी।'' इत्यादि

लेख के उद्धृत वाक्य पढ़ के मैंने कहा कि महात्मा जी! ऊपर का उत्तर तो सर्वथा सन्तोषजनक नहीं है। साकार दशरथ पुत्र, सीतापति राम सर्वव्यापी कैसे हो सकता है? साकार सीमित वस्तु वा व्यक्ति सर्व व्यापक बन ही नहीं सकते।

इस पर महात्मा जी ने कागज़ पर लिखा कि तब छोड़ दो। जो वस्तु तुम्हें ठीक नहीं प्रतीत होती उसे छोड़ दो।

मैंने कहा यह तो ठीक ही है पर आप के भी तो केवल इतना कह देने से काम नहीं चल सकता कि 'ऐसे सवालों का जवाब बुद्धि से नहीं दिया जा सकता। यह दिल की बात है।' बात युक्ति युक्त तो होनी चाहिये जैसे कि मनु जी ने अपनी स्मृति में कहा है कि आर्ष धर्मोपदेशं च, वेद शास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्मं वेद नेतरः॥

अर्थात् जो वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क से ऋषि धर्मोपदेश का अनुसन्धान व मनन करता है वही धर्म को जानता है अन्य नहीं। आपके लेख की बहुत सी बातें युक्तियुक्त नहीं हैं।

इस पर महात्मा जी ने लिखा कि मेरी बात युक्तियुक्त है।

मैंने निवेदन किया कि साकार राम जिसके विषय में आप कहते हैं कि वह सीतापति; दशरथनन्दन और लक्ष्मण व भरत का भाई भी है सर्वव्यापक कैसे हो सकता है?

महात्मा जी ने उत्तर में कागज पर लिखा कि जैसे मनुष्य

का पिता मनुष्य होता है वैसे ही सर्वव्यापी का पिता सर्वव्यापी होता है। मैंने कहा महात्मा जी यह बात ठीक नहीं। मनुष्य साकार और सीमित है अतः उसका पिता साकार और सीमित होना ठीक ही है पर निराकार सर्वव्यापक का पिता हो ही कैसे सकता है ? जैसे कि उपनिषदों में भी कहा है कि "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।"

मैंने यह भी कहा कि यदि आप अवतारवाद को मानते हुये श्रीराम को राम का अवतार मानते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर का लक्षण ही योगदर्शनादि में:—

'क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।" यह माना गया है अर्थात् क्लेश, अशुभ कर्म. फल तथा वासनादि से रहित परम आत्मा ही ईश्वर कहलाता है। ये लक्षण श्रीराम में भी नहीं घट सकते यद्यपि हम मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में उनका मान करते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है कि "पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत् कृतानि। तत्रायमद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि।"

(वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड ६३।४)

अर्थात् मैंने निश्चय से पूर्व जन्म में कई बार अनेक पाप कर्म किये थे। उनका फल मुझे दुःखों के रूप में भोगना पड़ रहा है।

इस पर महात्मा जी ने लिखा कि मैं भी आर्यसमाजी हूं। मेरी बुद्धि कुण्ठित नहीं हुई।

मैंने कहा यह प्रसन्नता की बात है। हम आप को उच्चकोटि का आर्य (श्रेष्ठ सज्जन) मानते हैं।

राम और ओ३म्

इस के पश्चात् मैंने कहा—महात्मा जी! आप भी तो वेद, उपनिषद्, गीता, योग दर्शनादि को मानते हैं। इन सब में परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम ओ३म् बताते हुये उस के जप का विधान है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद अ० ४० में कहा है—

ओ३म् क्रतो स्मर! हे कर्मशील जीव तू 'ओ३म्' का स्मरण कर।

कठोपनिषद् में कहा है:—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओ३म् इत्येतत्॥ अर्थात् सब वेद जिस का प्रतिपादन करते हैं, जिस की प्राप्ति के लिये सब तप तथा ब्रह्मचर्यादि व्रतों का अनुष्ठान किया जाता है वह 'ओ३म्' ही है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन् मामनुस्मरन्॥
यः प्रयाति स मद्भावं, याति नास्त्यत्र संशयः॥

इत्यादि श्लोकों में 'ओ३म्' द्वारा ही भगवान् के स्मरण का विधान है। योग दर्शन में भी

"तस्य वाचकः प्रणवः॥ तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ इत्यादि सूत्रों में प्रणव अर्थात् ओंकार को ईश्वर का सर्वोत्तम निज नाम बताते हुए उस के जप और उसके अर्थ के चिन्तन को चित्त की एकाग्रता का प्रधान साधन बताया गया है।

ऐसी अवस्था में क्यों न आप भी 'राम' के स्थान में (जिस का वेद, उपनिषद्, गीता, योगदर्शनादि में कहीं प्रतिपादन नहीं) परमेश्वर के सर्वशास्त्रसम्मत सर्वोत्तम सार्वभौम नाम 'ओ३म्' को अपना लेते? इस विषय में सब आर्य हिन्दू तथा

अन्य समस्त आस्तिक बिना भेद-भाव के सम्मिलित हो सकते हैं।

इस पर महात्मा जी ने लिखा कि तुलसी दास जी ने कहा है कि राम और ओ३म एक ही हैं। मैंने कहा केवल तुलसीदास जी के कहने से कोई बात ठीक नहीं हो जाती।

तुलसीदास जी के अनुसार विवाह के समय श्रीराम की आयु १५ और सीताजी की ६ वर्ष की थी, दशरथ जी की ३६० रानियाँ थीं. हनुमान आदि बन्दर थे। वस्तुतः ये बातें सत्य नहीं। तुलसीदास जी भक्त कवि थे और कुछ नहीं। वास्तविक बात यह है कि राम को यदि ईश्वर के हजारों नामों में से एक मान भी लिया जाए तो उसमें 'रमते सर्वेषु भूतेषु' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ईश्वर की सर्व व्यापकता का ही भाव आता है ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, आनन्दमयता, रक्षकता, दयालुता आदि गुणों का स्मरण उससे नहीं हो सकता जबकि 'ओ३म्' से अ उ म् तथा अव् धातु द्वारा जिसके रक्षण, गति, कान्ति, प्रीति, अवगम (ज्ञान) प्रवेश, दान आदि १६ अर्थ हैं परमेश्वर के सब गुणों का स्मरण किया जा सकता है। यहां मैंने ओ३म् की कुछ विस्तृत व्याख्या महात्मा जी के सामने रक्खी। अतः ओ३म् के साथ राम की तुलना नहीं की जा सकती।

इस पर महात्मा जी ने लिखा—पर राम में जो रस है वह ओ३म् में नहीं।

मैंने निवेदन किया महात्मा जी! रस तो उसके रहस्य और महत्त्व के समझने पर निर्भर है। यदि आप 'ओ३म्' के उपर्युक्त निर्दिष्ट प्रकार विस्तृत अर्थ और रहस्य को समझने का यत्न करें तो उसमें आपको अवश्य विशेष रस का अनुभव होगा जैसे कि हमें होता है। इस पर पूज्य महात्माजी ने कुछ नहीं कहा।

सत्यार्थप्रकाश महत्त्व

इसके पश्चात् मैंने सत्यार्थप्रकाश की पुनः चर्चा करते हुए (जिस विषय में कुछ बातचीत १४ सितम्बर को हुई थी) निवेदन किया कि पहली बात जो इस विषय में विचारणीय है यह है कि इसमें वर्णित आलोचनादि का उद्देश्य पवित्र है या नहीं। आप भी इससे सहमत होंगे कि वह उद्देश्य अत्यन्त पवित्र है कि लोग सत्य को समझें, ग्रहण करें और परस्पर प्रेम की उन में वृद्धि हो। महात्मा जी ने सिर हिला कर इस से सहमति प्रकट की। मैंने कहा कि दूसरी विचारणीय बात उस आलोचना की यथार्थता की है। यद्यपि किसी २ विषय में किसी विचारक को सन्देह हो सकता है किन्तु निष्पक्षपात दृष्टि से गम्भीर विचार करने पर महर्षि दयानन्द के विचार सर्वथा युक्ति युक्त और वेदादि सत्यशास्त्रानुकूल सिद्ध होते हैं। प्रसङ्ग वश मैंने नानावटी जी नामक एक गुजराती सज्जन के १८-६-३८ के एक पत्र के कुछ अंशों को पढ़ कर सुनाया जिसमें उन्होंने लिखा था कि "बापू जी की आज्ञा से मैं सत्यार्थप्रकाश देख गया हूं। मुझे कहना पड़ता है कि स्वामी दयानन्द जितने महान् थे उनका यह ग्रन्थ उतना महान् नहीं है बल्कि इसे धर्म ग्रन्थ का नाम देकर जगत् के समक्ष रखने में हमें जरूर संकोच होता है। धर्मग्रन्थ को चाहिए ऐसा उसमें गाम्भीर्य नहीं है। भाषा ग्रन्थ को चाहिए उतनी संस्कारी नहीं हैं। प्रमाणभूतविषय निरूपण नहीं है" इत्यादि। उन्होंने जो कुछ उदाहरण इस विचित्र सम्मति के समर्थनार्थ दिये हैं उनकी आलोचना करते हुए मैंने कहा यह स्पष्ट है कि श्री नानावटी जी ने सत्यार्थप्रकाश का ध्यान पूर्वक अध्ययन नहीं किया। अन्यथा जिस सत्यार्थप्रकाश ने बड़े २ विद्वानों और विचारकों को विशेष रूप से प्रभावित

किया (जिसके समर्थनार्थ अपनी 'Maharshi Dayananda and Satyarth Prakash. नामक संग्रहात्मक पुस्तक उनको गत भेंट के समय १४ सितम्बर को भेंट की थी और इस बार हैदराबाद के श्री नरेन्द्रजी द्वारा लिखित 'महर्षि दयानन्द और १४ वां समुल्लास' की १ प्रति भेंट की) उस के विषय में यह कहना कि उस में गाम्भीर्य नहीं है इत्यादि कितना अशुद्ध है। मैंने कहा मुझे आश्चर्य है कि ऐसे व्यक्ति की बात को आपने कैसे प्रामाणिक मान लिया और लिख दिया (सन् १८-१०-३८ के पत्र में) कि नानावटी जी ने जो प्रमाण दिये हैं उस को मैं स्वीकार करता हूँ।·····''उन पर मेरा विश्वास है।'' इत्यादि

महात्मा जी को नानावटी जी और उनके पत्र का अब स्मरण नहीं था। क्योंकि इस को ८ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। यह पत्र व्यवहार एक मित्र द्वारा मेरे हाथ लग गया था। महात्मा जी ने लिखा 'कौन नानावटी ? मैं नहीं जानता। मैंने वह लेख पढ़ा नहीं है।' कुछ गुजराती देवियों के स्मरण कराने पर जिन में से एक ने कहा नानावटी जी तो कोई संस्कृत के पण्डित नहीं हैं महात्मा जी ने कागज पर लिखा 'संभव है वही नानावटी हैं उनका पता काकावाड़ी वर्धा''।

मैंने निवेदन किया कि मैं उन से भी पत्र व्यवहार का यत्न करूंगा पर आप ऐसे सज्जनों की बातों को प्रामाणिक न मान लिया करें स्वयं ध्यान से पढ़ने का यत्न करें। मैंने ताजकम्पनी लाहौर द्वारा सन् १९४४ में प्रकाशित कुरान का उर्दू अनुवाद महात्मा जी को भेंट करते हुये निवेदन किया कि इसे आप अवश्य ध्यानपूर्वक पढ़ें ताकि कुरान की असली शिक्षा को आप समझ सकें। इस कुरान के अनुवाद पर जमायत-उल्-उलमा के प्रधान मुफ्तीमुहम्मद किफायतुल्लाह का प्रमाण पत्र है कि "मैंने

ताज कम्पनी लिमिटेड लाहौर की ख्वाहिश पर इस कुरान मजीद का मतन हरफ़ २ पूरे गौर अमान नज़र से पढ़ा और जहां तक इन्सानी सही का ताल्लुक है मैं पूरे वसूक़ से कह सकता हूं कि इस मसीफ़ मुकद्दस के मतन में कोई गलती नहीं रही। गलतियों की दुरुस्ती भी मैंने अपनी निगरानी में करा दी है।"

मैंने कहा कि इसके पढ़ने से आप यह भी जान सकेंगे कि स्वामी दयानन्द जी की आलोचना कितने यथार्थ आधार पर थी क्योंकि इसमें प्रायः सब स्थानों पर वही अर्थ शाह रफीउद्दीन साहब के तर्जुमे के आधार पर किये गये हैं जिन्हें सत्यार्थप्रकाश में दिया गया है। अब सत्यार्थप्रकाश की आलोचना से लाभ उठाकर विचार शील मुसलमानों, ईसाइयों, जैनियों, पौराणिकों तथा अन्य मतावलम्बियों ने अपने २ मन्तव्यों की नई युक्ति सङ्गत व्याख्या का प्रयत्न शुरू किया है जिसकी हम आर्यों को प्रसन्नता है क्योंकि महर्षि दयानन्द जी का उद्देश्य ऐसा सुधार ही था। उदाहरणार्थ सर सैयद अहमद खां ने जो महर्षि के घनिष्ट सम्पर्क में आये थे मुसलमानी बहिश्त (स्वर्ग) की बिल्कुल वैसी ही आलोचना की जैसी महर्षि दयानन्द जी ने की थी। ईसाइयों ने Genesis (उत्पत्ति पुस्तक) में आये six days (६ दिनों) का अर्थ Six periods (६ प्रकार का काल) इत्यादि किया। ऐसे अन्यों ने किया वा अब भी कर रहे हैं पर इसके आधार पर यह कहना जैसे कि आपने कभी लिखा था कि स्वामी दयानन्द जी ने हिन्दू मत, जैन मत, ईसाई मत, और इस्लाम को Misrepresent किया वा ठीक रूप में नहीं रक्खा सर्वथा अशुद्ध है।

यह सत्यार्थ प्रकाश का महत्त्व है कि उसने अन्य मतों के बड़े २ विद्वानों और विचारकों को अपने मन्तव्यों में सुधार और

उनकी युक्तिसङ्गत नवीन व्याख्या के लिये प्रेरित कर दिया है। वर्तमान सुधार का श्रेय वस्तुतः सत्यार्थ प्रकाश को ही है और उसका उपकार मानने के स्थान पर उस पर अयथार्थता का आरोप लगाना अनुचित है।

अन्त में मैंने हिंसा अहिंसा के प्रश्न की चर्चा करते हुये कहा कि महात्मा जी ! आप द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के आदर्श का पूर्ण पालन करना वैदिक धर्मानुसार ब्राह्मणों और संन्यासियों का ही धर्म है। सर्व साधारण और विशेषतः क्षत्रियों का नहीं।

अभी इस विषयक बातचीत आगे बढ़ने न पाई थी कि पूज्य महात्मा जी ने संकेत किया कि अब सोने का समय हो रहा है (६ बजने वाले थे) इस चर्चा को अब समाप्त किया जाए। मैंने महात्मा जी को धन्यवादपूर्वक प्रणाम करके यह चर्चा किसी अन्य अवसर के लिये स्थगित की।

परिशिष्ट सं ३

महात्मा जी के नाम कुछ आवश्यक पत्र

राष्ट्र भाषा, राष्ट्र लिपि; गोवध निषेधादि विषयक

(लेखक—पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति स० मन्त्री सार्व-देशिक सभा देहली ।)

१. महात्मा गांधी जी को १८-७-४७ का प्रेषित पत्र ।

श्री पूज्यपाद महात्मा जी !

सादर प्रणामांजलि ।

आशा है आप भगवान् की कृपा से सर्वथा कुशलपूर्वक होंगे। मुझे खेद है कि अत्यधिक कार्यव्यग्रता वश मैं चिरकाल से आपके दर्शनों का सौभाग्य नहीं प्राप्त कर सका। हरिजन (अंग्रेजी) तथा हरिजन सेवक। आदि द्वारा आपके दर्शन तो होते ही रहते हैं, मैं इस पत्र द्वारा आपका ध्यान कुछ अत्यावश्यक विषयों की ओर आकर्षित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं।

(१) सबसे पहले मैं राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेता हूँ। यह जानकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि विधान परिषद् की कांग्रेस पार्टी ने १७ जुलाई को ३२ के विरुद्ध ६३ और १८ के विरुद्ध ६३ मतों से हिन्दी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी लिपि को राष्ट्र लिपि घोषित करने का प्रस्ताव स्वीकृत किया। यद्यपि प० जवाहरलाल नेहरू तथा आचार्य कृपलानी आदि कुछ नेता हिन्दुस्तानी के समर्थक थे। आपने १६ जुलाई की प्रार्थना सभा

में भाषण करते हुए कहा कि 'प्रत्येक भारतीय को हिन्दुस्तानी अवश्य सीखनी चाहिए। यही जबान है जिसको हिन्दू मुसलमान सब बोल और समझ सकते हैं। यही राष्ट्रभाषा बन सकती है' इत्यादि।

मैं इस विषय में १४ सि० की भेंट में गत वर्ष आपसे निवेदन कर चुका हूं कि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का ही भारत की राष्ट्रभाषा होने का दावा सच्चा है जिसको बोलने और समझने वालों की संख्या भारत में ७५ प्रतिशत के लगभग है। क्योंकि बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, उड़िया, कन्नड़ी, मलयालम, तिलंगू, तामिल इत्यादि सब प्रांतीय भाषाओं में संस्कृत शब्द बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। अतः संस्कृत निष्ठ हिन्दी ही देश की राष्ट्रभाषा हो सकती है न कि एक कल्पित हिन्दुस्तानी के नाम से घड़ी जा रही कृत्रिम भाषा। आप से भी नम्र किन्तु सानुरोध निवेदन है कि कृपया येन केन प्रकारेण मुसलमानों को प्रसन्न करने की घातक नीति का परित्याग करके पूर्ववत् संस्कृत निष्ठ हिन्दी के ही राष्ट्रभाषा और देवनागरी लिपि के राष्ट्र लिपि होने का समर्थन करें।

(२) दूसरा प्रश्न अपने स्वतन्त्र होने वाले देश के नाम का है। यह स्पष्ट नहीं हुआ कि कांग्रेस के नेता क्या इस देश का इण्डिया यही नाम रखना चाहते हैं या क्या? अंग्रेजी में इण्डिया यह नाम कुछ राजनैतिक सुविधाओं की दृष्टि से सहनीय हो सकता है किन्तु हिन्दी में भी अपने प्रिय देश का इण्डिया यह विदेशी नाम रखना सर्वथा अनुचित तथा दास मनोवृत्ति का सूचक होगा। संस्कृत का शब्द न होने तथा वेदादि सत्य शास्त्रों व रामायण, महाभारतादि में भी न पाये जाने के कारण मैं हिन्दू, हिन्दुस्तान आदि नामों का पक्षपाती नहीं। मैं तो यही चाहता हूँ कि इस देश का पूर्ववत् 'आर्यावर्त' यही

नाम रक्खा जाए। आप जानते हैं कि संस्कृत के सब कोषों में आर्य शब्द के 'मान्यः' उदारचरितः, शान्तः न्यायपथावलम्बी, धार्मिकः धर्मशीलः, सततं कर्त्तव्यकर्मानुष्ठाता, इत्यादि अर्थ देते हुए वशिष्ट स्मृति आदि का श्लोक उद्धृत किया गया है कि:—

कर्तव्यमाचरन् कार्यम्, अकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः॥

अर्थात् आर्य वह कहलाता है जो कर्तव्य कर्म में सदा तत्पर रहता है, अकर्तव्य व पाप कर्म से जो सदा दूर रहता है, जो पूर्ण सदाचारी है।

Pear's Cyclopedia में Arya के विषय में लिखा कि
'The word Arya derived from the Sanskrit means an honourable lord of the soil.

सुप्रसिद्ध-योगी श्री अरविन्द ने 'आर्य' शब्द की व्याख्या करते हुए ठीक ही लिखा था कि:—
The Arya is he who strives and overcomes all outside him and within him that stands opposed to human advance. Self conauest is the first law of his nature.

The Arya is a worker and a warrior. Always he fights for the Kingdom of God with in himself and the world.''

इस अत्यन्त स्फूर्तिदायक महत्त्वपूर्ण शब्द को अपने देश के लिये पुनः प्रचलित करना सर्वथा उचित है जिसमें किसी को कोई आपत्ति न होनी चाहिये।

(३) राष्ट्रीय वेश के विषय में कई महानुभावों का यह विचार है कि अचकन, पाजामा, और खादी टोपी यह राष्ट्रीय वेश होना चाहिये। मैं तो इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हूं। आशा है। आप भी न होंगे। धोती, कुर्ता और खादी टोपी यही सामान्य वेश ठीक रहेगा।

(४) अल्लोपनिषत् के विषय में एक सम्पादकीय टिप्पणी मैंने 'सार्वदेशिक' के मई अङ्क में दी थी। 'प्रार्थना समय में कुरान की आयतों का पाठ' इस पर भी अपने विचार प्रकट किये थे। इस अङ्क को आपकी सेवा में भिजवा दिया था तथापि अब पुनः भिजवा रहा हूं। पिछले दिनों मैंने गुरुकुल कांगड़ी के विशाल पुस्तकालय में बैठ कर अल्लोपनिषद् विषयक खोज की है जिसके परिणाम को 'सार्वदेशिक' के जुलाई अङ्क में प्रकाशित किया जा रहा है। इसे प्रकाशित होने पर आपकी सेवा में भिजवा दिया जायगा। इन विषयों पर अपने विचार प्रार्थना प्रवचन तथा हरिजन, हरिजन सेवक आदि द्वारा भी प्रकट करने की कृपा करें। आपकी बड़ी कृपा होगी यदि इन आवश्यक विषयों पर विचार के लिये समय देकर अनुगृहीत करें। समय तथा स्थान आदि की सूचना मिलने पर मैं अवश्य सेवा में उपस्थित हो जाऊंगा।

भवदीय दर्शनाभिलाषी
(धर्मदेव विद्यावाचस्पति)

महात्माजी को २य पत्र

श्री पूज्यपाद महात्मा जी ! २२-८-४७

सादर प्रणामाञ्जलि

(१) मेरा इससे पूर्व भेजा १८-६-४७ का पत्र आशा है इससे पूर्व आपको मिल अवश्य गया होगा। आशा है आप

उस पत्र में निर्दिष्ट विषयों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करेंगे।

(२) अब जब कि विधान परिषद् की कांग्रेस पार्टी ने बहुत बड़े बहुमत से हिन्दी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी लिपि को राष्ट्रभाषा के रूप में घोषित करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है आपका अपने व्यक्तित्व के दबाव से उस सर्वथा न्यायसंगत प्रस्ताव को बदलवाने का प्रयत्न कहां तक उचित है यह कृपया आप ही स्वयं ही विचार करें। मुझे तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि आपका ऐसा करना न केवल प्रजातन्त्र शासन के सर्वथा विरुद्ध है बल्कि अहिंसा के भी प्रतिकूल है। मुझे निश्चय है कि यदि आपके व्यक्तित्व के दबाव में आकर विधान परिषद् के सदस्यों ने एक कृत्रिम, कल्पित भाषा हिन्दुस्तानी के राष्ट्र भाषा होने की घोषणा की तो कांग्रेस के नेताओं के विरुद्ध प्रबल विद्रोह भावना सर्वसाधारण आर्य हिन्दू जनता में जागृत होगी और कांग्रेस के अनेक अच्छे कार्यकर्ता भी उससे पृथक् हो जाएंगे। अब जब कि दुर्भाग्यवश पाकिस्तान की पृथक् स्थापना हो गई है और उसने उर्दू को अपनी राष्ट्र भाषा घोषित किया है आपका हिन्दुस्तानी के लिए आग्रह करते जाना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। हिन्दुस्तानी विषयक अपने आग्रह का परित्याग करके प्रबल जनमत के आगे सिर झुकाना इसी में आपका तथा देश का सच्चा हित है।

(३) पिछले पत्र में मैंने जिन विषयों का उल्लेख किया था उनके अतिरिक्त कानून द्वारा गो वध-निषेध का विषय भी अत्यावश्यक है जिसकी ओर मालूम होता है-अन्य भी अनेक महानुभावों ने आपका ध्यान आकर्षित किया है। आपका यह कथन तो ठीक है कि हिन्दुओं को गौओं की रक्षा और सेवा भली भांति करनी चाहिए, केवल कानून से लाभ नहीं हो सकता किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कानून द्वारा गोवध को

बन्द न कराया जाए। यदि स्वतन्त्राप्राप्त होने पर गोवधनिषेध विषयक कानून भी न बनाया जाय तो उससे क्या लाभ हो सकता है? आपने अपने भाषण में जो कहा है कि "मैं गौ का पुजारी हूं, और मैंने गो-सेवा का व्रत चिरकाल से से रक्खा है पर यह समझ में नहीं आया कि मैं सरकार से गोवध को कानून द्वारा बन्द करने के लिये क्यों कहूं?" यह समझ में नहीं आया। आपका श्री पं० जवाहरलाल नेहरू आदि पर विशेष प्रभाव है। आप जिस बात को आवश्यक समझते हैं उसे उन्हें बतलाते ही रहते हैं। क्या इस बात को आवश्क नहीं समझते हैं यदि समझते हैं (जैसा कि हमारा विश्वास है) तो आप पं० नेहरू जी आदि को इस विषय में क्यों न प्रेरित करें? आपकी आज्ञा का वे उलङ्घन न करेंगे यह मुझे निश्चय है। कृपया इन विषयों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें।

भवदीय

धर्मदेव.

इन पत्रों के उत्तर में निम्नलिखित संक्षिप्त पत्र महात्मा जी के यहां से प्राप्त हुआ।

नई देहली, २५-७-४७

"भाई साहब आपका पत्र मिला। करीब २ सब प्रश्नों के जवाब गांधी जी ने प्रार्थना सभा में दे दिये हैं। यही

......की नमस्ते

महात्मा गांधी जी को ३ य पत्र

१५-६-४७

श्री पूज्यपाद महात्मा जी!

सादर प्रणामाञ्जलि

आशा है आप भगवान् की कृपा से सर्वथा कुशल पूर्वक

होंगे और आप को मेरे इस से पूर्व राष्ट्र भाषा हिन्दी, राष्ट्र लिपि देवनागरी तथा गोवध निषेध विषयक पत्र मिल गये होंगे।

गत कुछ दिनों से साम्प्रदायिक परिस्थिति ने जो भीषण रूप धारण कर लिया है उस से आप भली भांति परिचित होंगे। कल रात को रेडियो द्वारा प्रसारित आप के प्रार्थनोत्तर भाषण को मैंने ध्यान पूर्वक सुना उस से ज्ञात हुआ कि आप को मुसलमानों के अस्त्र-शस्त्र, गोला बारूद, बन्दूक, तोप आदि के गुप्त रूप में संग्रह के विषय में (जिस के सब्जी मन्डी, पहाड़गंज दरयागंज, पालम ऐरोड्रोम, कीलिंग रोड, आदि में स्पष्ट प्रमाण मिले हैं) सूचना मिल चुकी है। जो भयङ्कर षड्यन्त्र अनेक मुसलमानों ने देहली को पाकिस्तान में मिलाने का किया हुआ था और जिस में पाकिस्तान सरकार के कई मन्त्री तथा अन्य उच्च अधिकारी सम्मिलित थे उस से भी आप परिचित हो चुके हैं तथापि आप ने हिन्दू सिक्ख जनता से उदारता और शान्ति की अपील की है। मुसलमानों से आपने अपने अस्त्र शस्त्रादि को लौटाने की अपील अवश्य की है किन्तु मुझे आशा नहीं प्रतीत होती कि इस का उन विद्रोहियों पर कोई प्रभाव होगा। इस लिये आवश्यकता इस समय दृढ़तापूर्वक इस विद्रोह के दमन करने और इन उत्पाती विद्रोहियों को शीघ्र से शीघ्र पाकिस्तान भेज देने की है। 'यह सरकार का काम है' यह आप का कथन ठीक ही है किन्तु आप भी इस समय सरकार को पूर्ण न्याय और दृढ़ता से काम लेने का परामर्श दें। दया और उदारता दिखाने से स्थिति बिल्कुल बिगड़ जायगी और सरकार का कार्य तक चलना असम्भव हो जायगा। आप मुस्लिम शरणार्थियों के शिविरों में बार २ जा कर उन के अधिकतर अत्युक्ति पूर्ण असत्य वर्णनों से प्रभावित न हों किन्तु पंजाब और सीमाप्रान्तादि से जो शरणार्थी आए हैं उन की अत्यधिक शोचनीय

परिस्थिति का भी पता लगा कर सरकार को दृढ़ता पूर्वक परिस्थिति का सामना करने का परामर्श दें यही आप से सानुरोध प्रार्थना है। आप के चित्त के अन्दर महात्मजनोचित दया और उदारता है इस लिये हम लोगों को भय है कि बहुत से मुसलमान नेता (जिन का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से इन उपद्रवों में हाथ रहा है) उन का दुरुपयोग उठाने का प्रयत्न करेंगे। आप से यही प्रार्थना है कि मुसलमानों के भयङ्कर षड्यन्त्र और पाशविक अत्याचारों को दृष्टि में रखते हुए जो उन्होंने बङ्गाल, पंजाब, सीमाप्रान्तादि में स्त्रियों, बच्चों और आदमियों पर किये हैं आप भारतीय सरकार के अधिकारियों को उग्रतापूर्वक विद्रोह दमन की ही सलाह दें।

पुनश्च:—

आज आपने सामाचार पत्रों में पढ़ा ही होगा कि मुसलमानी रियासत बहावलपुर के बहावल नगर नामक एक ही शहर में १५ हजार में से १४ हजार हिन्दुओं की हत्या कर दी गई है। कुछ दिन पूर्व समाचार पत्रों में पढ़ा था कि रैडक्लिफ निर्णय के अनुसार भारत में सम्मिलित किये जाने वाले १५० ग्रामों पर मुसलमानों ने जबर्दस्ती अधिकार जमा लिया।

ऐसी घटनाओं को देखते हुए उग्रता और कठोरता से विद्रोहियों के प्रति कार्यवाही को क्या आप आवश्यक नहीं समझते ?

भवदीय विनीत
धर्मदेव

इस का महात्मा गांधी जी के एक मन्त्री की ओर से निम्न उत्तर २०-६-४७ को दिया गया जो मुझे डाक की गड़बड़ के कारण ३०-६-४७ को प्राप्त हुआ।

२८-९-४७

भाई साहब ! आपका खत मिला।

उचित सब कुछ गांधी जी करेंगे ऐसा आपको विश्वास होगा ऐसी आशा है। यही

भवदीय

"......के नमस्ते"

महात्मा जी को चतुर्थ पत्र

इस उपर्युक्त संक्षिप्त आशाजनक पत्र की प्राप्ति के पूर्व २३ सितम्बर को मैंने निम्न पत्र महात्मा जी के नाम भेजा:—

श्री पूज्य पाद महात्मा जी !

सादर प्रणामाञ्जलि

मेरा इस से पूर्व १५ सितम्बर का पत्र आपको मिल गया होगा ऐसी आशा है जिस में मैंने लिखा था कि देहली में तथा अन्यत्र मुसलमानों के भयङ्कर षड्यन्त्र और पाशविक अत्याचारों को दृष्टि में रखते हुए सरकार को बड़ी उग्रता से काम लेने की आवश्यकता है। दया और उदारता दिखाने से सरकार का कार्य चलना सर्वथा असम्भव हो जाएगा। उस के पश्चात् मैंने आप के भाषण रेडियो पर सुने और समाचार पत्रों में पढ़े जिन में आपने हिन्दुओं और सिक्खों से अपील की है कि वे घर छोड़ कर बाहर चले गए मुसलमानों को पुनः अपने पुराने घरों में बसने के लिये सप्रेम निमन्त्रित करें। साथ ही मुसलमानों से दरियागंज की मस्जिद में १८ सि० को भाषण देते हुए आपने कहा कि 'आपको मृत्यु भय होने पर भी अपने घर बार नहीं छोड़ने चाहियें।

आप की इस प्रकार की अपील तथा भाषण वर्तमान परि-

स्थिति को ध्यान में रखते हुए नितान्त हानिकारक हैं क्योंकि किसी से भी यह बात छिपी हुई नहीं है कि मुसलमानों की बहुत बड़ी संख्या हिन्दुओं और सिक्खों के प्रति द्वेषभाव रख कर उन्हें सब प्रकार से सताने, स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट करने तथा अग्निकाण्ड, लूटमार, निर्दोष शरणार्थियों पर निर्दयता पूर्ण आक्रमण करने आदि में तत्पर हैं। उसे फिर से छोड़े हुए घरों में आने के लिये निमन्त्रण देना सदा के लिए अशान्ति, कलह तथा विरोध को निमन्त्रण देना होगा। क्या आपको अब तक यह निश्चय नहीं हो गया कि अनेक मुसलमानों ने भारत सरकार तथा हिन्दू-सिक्ख जनता के विरुद्ध युद्धार्थ कितने शस्त्रास्त्र, स्टेन गन्स, गोलाबारूद, बम आदि इकट्ठे कर रक्खे थे और किस प्रकार पाकिस्तान सरकार, रोटियों आदि के बीच में भी राइफिल आदि भेज रही थी जिन के सहारे कई स्थानों पर निरन्तर कई घण्टों तक इन उपद्रवियों ने फौज का मुकाबिला किया। मैंने स्वयं सब्जीमण्डी घण्टाघर के पास हाजी-काक्वान के उस बड़े मकान को देखा है जहां नीचे कई तहखाने हैं जहां कई मशीनें लगी हुई हैं जिन में बम इत्यादि तय्यार किये जाते थे। इतने स्पष्ट प्रमाण होते हुए भी यदि आप यह आशा करते हैं कि ये उपद्रवी आप को अपने सब शस्त्रास्त्र स्वयं लौटा देंगे तथा हिन्दू सिक्खों के साथ मैत्री से रहेंगे तो यह केवल कल्पना ही सिद्ध होगी। हां आपको धोखा देने के लिये दो चार तलवारों को लौटाने की की बात अलग है। कृपा करके अपने महात्मापन को वर्तमान अत्यन्त दूषित वायुमण्डल में लाकर मुस्लिमेतरों की कठिनाइयों को (तथा वस्तुतः भारत सरकार की परेशानी को) और न बढ़ाइये। अच्छा है जो भारत को वस्तुतः अपना देश नहीं समझते, जो मुस्लिमेतरों को काफ़िर समझ कर कुरान की शिक्षानुसार उनकी हत्या तक करना सर्वथा

उचित और स्वर्ग प्राप्ति का साधन समझते हैं वे पाकिस्तान चले जाएं। सब्जीमण्डी, पहाड़गंज तथा अन्य स्थानों के हिन्दू, सिक्ख ऐसे उपद्रवियों को वापिस बुलाने के लिये बिल्कुल तैयार नहीं। क्या आप इस से सन्तुष्ट हैं कि २-४ तलवारें आप को लौटा दी गई हैं? यदि इस समय ऐसे उपद्रवी मुसलमानों को कठोर दण्ड न दिया गया और पुनः पुराने घरों में लौटने दिया गया तो इस का परिणाम बड़ा भयङ्कर होगा। कृपया इन बातों पर गम्भीरता से विचार कीजिये और शीघ्र पंजाब तथा सीमा-प्रान्त जाकर मुसलमानों की मनोवृत्ति को बदलने का यत्न करिये। अगस्त का 'सार्वदेशिक' आपकी सेवा में भेजा गया है। उसके 'सम्पादकीय' कृपया अवश्य पढ़ने का कष्ट करें।

भवदीय विनीत

धर्मदेव

इस पत्र का पृथक् उत्तर तो मुझे प्राप्त नहीं हुआ किन्तु बहुत से मित्रों का विचार है कि २७ सितम्बर १९४७ के प्रार्थनोत्तर भाषण में महात्मा जी ने एक आर्यसमाजी मित्र के जिस पत्र का निर्देश किया था, वह यही पत्र होगा।

सम्राट् प्रेस पहाड़ी धीरज देहली।